जे. कृष्णमूर्ति

आमूल क्रान्ति की आवश्यकता

कृष्णमूर्ति फ़ाउन्डेशन इन्डिया
वाराणसी

आमूल क्रांति की आवश्यकता

जे० कृष्णमूर्ति

अनुवादक

कुमुद रामानन्द बंसल

कृष्णमूर्ति फ़ाउण्डेशन इण्डिया
राजघाट शिक्षा संस्थान
राजघाट फ़ोर्ट, वाराणसी।

हिन्दी अनुवाद : The urgency of Change

प्रथम संस्करण : जनवरी 1986
द्वितीय संस्करण : मई 1993

मुद्रक :
खण्डेलवाल आफसेट प्रिन्टर्स
बी ३८/३-क, महमूरगंज, वाराणसी
फोन : ३६०२६६

विषय-सूची

1

सजगता

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह जानना चाहूँगा कि सजगता से आप का क्या मतलब है, क्योंकि आप अक्सर कहते आये हैं कि सजगता ही आपका उपदेश है। आप की वार्ताओं को सुन कर और आप की पुस्तकों को पढ़कर मैंने इसे समझने की कोशिश की है, पर लगता है कि मैं कुछ आगे नहीं बढ़ सका। मैं जानता हूँ कि यह एक अभ्यास नहीं है, और मैं यह भी समझता हूँ कि क्यों आप इतना ज़ोर देकर किसी भी प्रकार के अभ्यास, कठोर अनुशासन, पद्धति, नियमावली या नित्यक्रम का परित्याग करते हैं। मैं इसके महत्त्व को भी समझता हूँ क्यों कि अन्ततः यह सब कुछ यान्त्रिक बन जाता है और इसके अन्त में मानस नीरस व बुद्धिहीन हो जाता है। अगर आपकी इजाजत हो तो मैं आपके साथ शुरू से अन्त तक इस प्रश्न की छानबीन करना चाहूँगा कि सजग होने का मतलब क्या है ? ऐसा लगता है कि इस शब्द को आप बहुत गूढ़ अर्थ देते हैं, फिर भी मुझे लगता है कि जो कुछ भी हर समय घट रहा है उसके प्रति हम सजग हैं। जब

मैं गुस्से में हूँ तो मुझे पता है कि मैं गुस्से में हूँ, जब मैं उदास हूँ तब भी मुझे मालूम है कि मैं उदास हूँ, जब मैं खुश हूँ तब भी मुझे पता है कि मैं खुश हूँ।

कृष्णमूर्ति :—मुझे आश्चर्य है कि क्या वास्तव में हम क्रोध, उदासी, खुशी के प्रति सजग रहते हैं ? या फिर इन चीजों के प्रति हम तभी सजग होते हैं जब यह सब खत्म हो जाता है ? चलिए हम शुरू से प्रारम्भ करते हैं मानो इन सब के विषय में हमें कुछ पता ही नहीं है। हमें कोई सिद्धान्तमक या सूक्ष्म दावा तो प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि इस प्रश्न की छान-बीन करनी है। अगर हम वास्तव में इसकी गहराई से जाँच करें तो एक अनोखी अवस्था प्रकट होगी जो कि शायद मानस द्वारा कभी छूई नहीं गई है—एक ऐसा आयाम जो सतही सजगता से प्रभावित नहीं है। आइए, हम सतह से शुरू करें और गहराई तक जाएँ।

हम अपनी आखों से देखते हैं और अपनी आस-पास की वस्तुओं का अपनी इन्द्रियों द्वारा अनुभव करते हैं—फूल का रंग, फूल पर चहचहाता हुआ पक्षी, सूरज की रोशनी, हजारों विभिन्न किस्मों व सूक्ष्मताओं की ये आवाजें, गहराई और ऊँचाई लिए इन वृक्षों की छाया और ये वृक्ष स्वयं। इसी प्रकार हम अपने शरीर को भी महसूस करते हैं, जो विभिन्न प्रकार के सतही संवेदिक बोध का उपकरण है। अगर यह इन्द्रिय बोध छिछले स्तर तक ही रहे तब तो किसी प्रकार की अस्तव्यस्तता होगी ही नहीं। वह फूल, वह पेन्जी, वह गुलाब, यही सब कुछ इन्द्रिय बोध है। कोई वरीयता नहीं है, कोई तुलना नहीं है, कोई पसन्द या नापसन्द का सवाल नहीं है। बिना किसी मनोवैज्ञानिक प्रसंग के केवल वस्तु हमारे सामने हैं। क्या आप को यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यह सतही संवेदिक बोध है या यह सजगता है ? इस सजगता को और भी विस्तृत किया जा सकता है, सितारों तक, समुद्र को गहराइयों तक, तथा सभी आधुनिक तकनिकी उपकरणों का प्रयोग करते हुए वैज्ञानिक प्रेक्षण की चरम सीमा तक।

प्रश्नकर्ता :—यह ठीक है। मेरे ख्याल से में इसे समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—आप देखते हैं, कि ये गुलाब, व्यक्तियों से भरा यह ब्रह्माण्ड आप की पत्नी अगर है तो, सितारे, समुद्र, पहाड़, जीवाणु, परमाणु, न्यूट्रान, यह कमरा, यह दरवाजा, यह सब वास्तव में हैं। यह तो था हमारा पहला कदम; अब अगला कदम, इन सब के विषय में आप क्या सोचते हैं ? क्या महसूस

करते हैं ? यह सब आप की इनके प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया होगी। इसी को हम विचार या भावना का नाम देते हैं। दरवाजा है। अतः इस की सतही सजगता तो बहुत ही साधारण सी बात है। परन्तु दरवाजे की व्याख्या तो दरवाजा है नहीं, और जब आप भावकुता से व्याख्या में लिप्त हो जाते हैं तब आप दरवाजा नहीं देखते। यह व्याख्या एक शब्द हो सकता है या फिर वैज्ञानिक शोध या भावात्मक प्रतिक्रिया हो सकती है; पर यह व्याख्या दरवाजा तो नहीं है। शुरू से ही इस बात को समझ लेना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। अगर हम इसे नहीं समझे तो अधिकाधिक अस्तव्यस्तता में फँसते चले जायेंगे। व्याख्या, व्याख्या की जाने वाली वस्तु नहीं है। हालांकि अब भी हम किसी वस्तु की व्याख्या ही कर रहे हैं—जो हमें करनी है—पर जिस वस्तु की हम व्याख्या कर रहे हैं वह हमारी व्याख्या नहीं है। कृपया पूरी बात-चीत के दौरान इस बात को ध्यान में रखें। शब्द को कभी भी, जिस वस्तु की वह व्याख्या कर रहा है, वह नहीं समझें। शब्द कभी भी हकीकत नहीं है। अब हम सजगता के अगले सोपान पर आते हैं जहाँ यह व्यक्तिगत हो जाती है और हम इसमें असानी से वह जाते हैं। हम शब्द द्वारा भावुक हो जाते हैं।

इस तरह वृक्ष, पक्षी और दरवाजे की सजगता सतही है और फिर उसके लिए हमारी प्रतिक्रियायें हैं, जो विचार है, अनुभूति और संवेग है। जब हम इस प्रतिक्रिया के प्रति सजग होते हैं तो इसे हम सजगता की दूसरी गहराई भी कह सकते हैं। वहाँ गुलाब की सजगता है और फिर गुलाब के प्रति प्रतिक्रिया की सजगता है। प्रायः हम इस प्रतिक्रिया के प्रति सचेत नहीं होते हैं। असल में तो यह एक ही सजगता है जो गुलाब और प्रतिक्रिया दोनों को देखती है। यह एक ही गति है और यह कहना कि सजगता आंतरिक है अथवा बाह्य है, यह गलत है। जब वृक्ष की बिना किसी मनोवैज्ञानिक प्रसंग के सजगता है तो वहाँ सम्बन्ध में विभाजन नहीं होता। परन्तु जब वृक्ष के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है तो यह प्रतिक्रिया संस्कारबद्ध है, विगत याददाश्त और अतीत के अनुभवों की प्रतिक्रिया है। यह प्रतिक्रिया ही सम-सम्बन्ध में विभाजन है। यह प्रतिक्रिया ही सम्बन्ध में 'अहम' और 'अनाहम' का जन्म है। इसी तरह से आप अपने आप को संसार से सम्बन्धित पाते हैं। इसी तरह आप वैयक्तिकता और बिरादरी का सृजन करते हैं। संसार जैसा है वैसा तो देखा नहीं जाता, बल्कि स्मृति के "अहम" के विविध

सम्बन्धों में इसे देखा जाता है। यह विभाजन ही जिन्दगी तथा जिसे हम भावात्मक हस्ती कहते हैं का फलना-फूलना है। और इसी से सभी अन्तर्विरोध व विभाजन पैदा होते हैं। क्या आप को यह स्पष्ट है ? क्या आप इसे समझ रहे हैं ? जहाँ वृक्ष के प्रति सजगता है वहाँ कोई मूल्यांकन नहीं है। जब वृक्ष के प्रति प्रतिक्रिया है, जब वृक्ष पसन्द व नापसन्दगी से जाँचा जाता है, तब इस सजगता का "अहम" व "अनाहम" में विभाजन हो जाता है। "अहम" प्रेक्षित वस्तु से भिन्न हैं। सम्बन्ध में "अहम" की यह प्रतिक्रिया विगत स्मृतियों तथा अतीत के अनुभवों की हैं। क्या बिना किसी निष्कर्ष के सजगता हो सकती है ? क्या वृक्ष को देखा जा सकता है ? क्या बिना किसी निर्णय के, अनुक्रिया या प्रतिक्रिया को देखा जा सकता है ? और इस तरह वृक्ष को देखने के लिए और अपने आप को देखने के लिए, हम विभाजन, "अहम" व "अनाहम" के सिद्धान्त का उन्मूलन कर देते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—आप जो कह रहे हैं उसे समझने की मैं कोशिश कर रहा हूँ। चलो देखते हैं क्या मैंने इसे ठीक तरह से समझा है। वृक्ष के प्रति सजगता है, यह मैं समझता हूँ, और यह भी समझता हूँ कि वृक्ष के प्रति मनोवैज्ञानिक अनुक्रिया है। यह मनोवैज्ञानिक अनुक्रिया अतीत स्मृतियों व अनुभवों से बनी है। यह रुचि व अरुचि है तथा वृक्ष और 'अहम' का विभाजन है। हाँ, अब लगता है कि मैं यह सब कुछ समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—क्या यह वृक्ष की तरह ही स्पष्ट है या यह मात्र व्याख्या की स्पष्टता है ? जैसा हमने पहले भी कहा है, याद रखें कि व्याख्या की जाने वाली वस्तु व्याख्या नहीं है। आपने क्या समझा—वस्तु को या व्याख्या को ?

प्रश्नकर्त्ता :—मेरे विचार से तो मैंने वस्तु को समझा है।

कृष्णमूर्ति :—इसका अर्थ है कोई "अहम" नहीं है जो कि तथ्य को देखने की व्याख्या मात्र है। किसी भी तथ्य को देखने में "अहम" नहीं है। या तो देखना है या "अहम" है, यह दोनों एक साथ नहीं हो सकते। "अहम" देखना नहीं है। "अहम" देख नहीं सकता है, सजग नहीं हो सकता है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैं इसे यहीं समाप्त करूँ। मैं सोचता हूँ मुझे इसका बोध हो रहा है पर मैं इसे दिमाग में बैठा लेना चाहता हूँ। क्या मैं कल फिर से आ सकता हूँ ?

× × × ×

प्रश्नकर्त्ता :—आपने कल जो कुछ कहा, लगता है कि मैंने अशाब्दिक रूप से समझ लिया है। वृक्ष के लिए सजगता है. वृक्ष के लिए प्रतिवद्ध अनुक्रिया भी है। यह संस्कारवद्ध अनुक्रिया हो द्वन्द्व है। यह प्रतिवद्ध अनुक्रिया अतीत की स्मृति, अनुभव, पसन्द, नापसन्द और पूर्वाग्रह की क्रियाएँ हैं। मैं यह भी समझता हूँ कि पूर्वाग्रह की अनुक्रिया ही "अहम" या नियन्त्रक का जन्म है। मैं स्पष्टतः देख रहा हूँ कि सभी सम्वन्धों में "अहम", "मैं", रहता है। क्या सम्वन्धों के बाहर भी "मैं" है ?

कृष्णमूर्ति :—हमने यह देखा कि हमारी अनुक्रियाएँ कितनी अधिक प्रतिवद्ध हैं। जव आप यह पूछते हैं कि क्या सम्वन्ध से बाहर भी कोई "अहम" है तो यह प्रश्न तब तक निराधार कल्पना है जब तक कि प्रतिवद्ध अनुक्रिया से मुक्ति नहीं है। क्या आप इसे समझ रहे हैं ? अतः हमारा प्रश्न यह नहीं है कि क्या संस्कारवद्ध या यों कहिए कि क्या प्रतिवद्ध अनुक्रिया से वाहर भी "अहम" है, वरन् हमारा प्रश्न है कि क्या वह मानस जिसमें सभी मनोभाव निहित हैं, प्रतिवद्धता—जो कि अतीत है—से मुक्त हो सकता है ? अतीत ही "अहम" है। वर्तमान में कोई "अहम" नहीं है। और जव तक मानस अतीत में परिचालन करता रहता है, तव तक "अहम" वना रहता है। मानस ही अतीत है और मानस ही "अहम" है।

आप यह नहीं कह सकते कि मानस भी है और अतीत भी है, चाहे वह अतीत कुछ दिन पहले का हो या दस हजार वर्ष पहले का। हम यह पूछ रहे हैं : क्या मानस स्वयं को बीते हुए कल से, अतीत से, छुटकारा दिला सकता है ? सर्वप्रथम, सतही सजगता है। तत्पश्चात् प्रतिवद्ध अनुक्रिया की सजगता है, और तव यह अनुभूति होती है कि मानस ही अतीत है। मानस ही प्रतिवद्धित अनुक्रिया है। और फिर यह प्रश्न उठता है : क्या मानस स्वयं को अतीत से मुक्त करा सकता है। यह सब सजगता की ही ऐकिक क्रिया है, क्योंकि इसमें निष्कर्ष नहीं है। जव हम यह कहते हैं कि मानस ही अतीत है तो यह अनुभूति शाब्दिक निष्कर्ष नहीं है परन्तु हकीकत को देखना है। ऐसे वास्तविक तथ्य को देखने के लिए फ्रांसिसी "कान्सटटेशन" शब्द का प्रयोग करते हैं। जब हम यह प्रश्न पूछते हैं कि क्या मानस अतीत से मुक्त हो सकता है तो यह प्रश्न क्या नियन्त्रक ने, "अहम" ने, नहीं पूछा है जो स्वयं अतीत है ?

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मानस अतीत से मुक्त हो सकता है ?

कृष्णमूर्ति :—यह प्रश्न कौन पूछ रहा है ? क्या यह वह इकाई है—जो ढेर सारे द्वन्द्वों, स्मृतियों और अनुभवों का परिणाम है—क्या यह इकाई प्रश्न पूछ रही है—या फिर यह प्रश्न तथ्यों को देखने से स्वयं ही उठता है ? अगर प्रेक्षक यह प्रश्न पूछ रहा है तो वह स्वयं के ही तथ्य से दूर भागने की कोशिश कर रहा है, क्योंकि वह कह रहा है कि "मैं इतना लम्बा अरसा पीड़ा, मुसीबत और दुख में जीया हूँ, अब मैं इस अनवरत संघर्ष से परे जाना चाहता हूँ।" अगर वह इस इरादे से प्रश्न पूछ रहा है तब तो इसका उत्तर किसी तरह के पलायन का आश्रय लेना मात्र होगा। आप या तो तथ्य से मुँह मोड़ लेते हैं या फिर उसका सामना करते हैं। वास्तव में तो यह प्रश्न पूछना ही पलायन की क्रिया है, क्या यह नहीं है ? हमें सजग रहना है कि यह प्रश्न पलायन की क्रिया है या नहीं है। अगर यह है तो यह मात्र कोलाहल है। अगर कोई द्रष्टा नहीं है तो शान्ति है और समग्र अतीत का पूर्णतः निषेध है।

प्रश्नकर्त्ता :—यहाँ मैं भटक जाता हूँ। मैं कुछ ही क्षणों में अतीत को मिटा कैसे सकता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—हमें यह बात ध्यान में रखनी है कि हम सजगता की चर्चा कर रहे हैं। हम साथ-साथ मिलकर सजगता के प्रश्न पर विचार विमर्श कर रहे हैं।

हमारे सामने वृक्ष है और प्रतिबद्ध अनुक्रिया भी है, जो सम्बन्धों में "अहम" है, "अहम" जो द्वन्द्व का केन्द्र है। अब, क्या यह "अहम" प्रश्न पूछ रहा है ? "अहम"—जैसा हमने कहा—अतीत की संरचना है। अगर अतीत की संरचना द्वारा प्रश्न नहीं पूछा गया है, तब अतीत की कोई संरचना नहीं है। जब संरचना यह प्रश्न पूछती है तब वह तथ्य से स्व-सम्बन्ध में परिचालित है, वह स्वयं से भयभीत है और पलायन की क्रिया करती है। जब संरचना यह प्रश्न नहीं पूछती, तब वह स्व-सम्बन्ध में क्रियाशील नहीं है। आइये, इसे पुनः देखें : वृक्ष है, शब्द है, वृक्ष के लिए अनुक्रिया है, नियन्त्रक है, या फिर "अहम" है जो अतीत से प्रकट होता है। इसके बाद प्रश्न है : क्या मैं इस विक्षोभ और घोर व्यथा से बच सकता हूँ ? अगर "अहम" यह प्रश्न पूछ रहा है तो वह स्वम् की निरन्तरता बनाये रखता है।

अब क्योंकि वह इस बारे में सजग है, तब वह प्रश्न पूछता ही नहीं ! सजग रहते हुए तथा सभी निहितार्थों को देखते हुए यह प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता क्योंकि वह जाल देखता है। इसलिए वह किसी भी तरह यह प्रश्न नहीं पूछता। क्या आप देख रहे हैं कि यह सब सजगता सतही है ? यह वही सजगता है जो वृक्ष को देखती है।

प्रश्नकर्त्ता :—किसो और प्रकार की सजगता भी है क्या ? इस सजगता का दूसरा आयाम भी है क्या ?

कृष्णमूर्ति :—हमें फिर से सावधान हो जाना चाहिए। यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हम किसी अभिप्रायवश यह प्रश्न नहीं पूछ रहे हैं। अगर कोई अभिप्राय है तो हम फिर से प्रतिबद्ध अनुक्रिया के जाल से फंस जाते हैं। जब प्रेक्षक बिलकुल शान्त है—ना कि शान्त किया गया है—तो निश्चय ही भिन्न प्रकार की सजगता अस्तित्व में आती हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—किसी भी परिस्थिति में बिना प्रेक्षक के कौन सी क्रिया सम्भव है—कौन सा प्रश्न या कौन सी क्रिया ?

कृष्णमूर्ति :—आप यह प्रश्न दरिया के इस किनारे से पूछ रहे हैं या उस पार से ? अगर आप उस पार हैं तो यह प्रश्न पूछेंगे ही नहीं; अगर आप उस पार हैं तो आप की समस्त प्रक्रिया उस पार से होगी। अतः जो इस किनारे की संरचना, स्वभाव और जाल सहित सजगता है वह इस जाल से पलायन का प्रयत्न दूसरे जाल में फँसने के समान है। क्या आप देखते हैं कि इस सबमें कितनी घातक एकरसता है। सजगता ने हमें जाल के स्वभाव को दर्शाया है, इसी कारण सभी जालों का निषेध हो जाता है। अतः मानस अब रिक्त है। यह "अहम" और पलायन के जाल से रिक्त है। ऐसे रिक्त मानस का एक भिन्न गुण है, ऐसी सजगता का एक भिन्न आयाम है। इस सजगता को मालूम नहीं है कि वह सजग है।

प्रश्नकर्त्ता :—हे भगवान, यह तो बहुत ही मुश्किल है। आप वो सब कह रहे हैं जो यद्यपि सच प्रतीत होता है, सच सुनाई देता है, लेकिन मुझे अभी तक

कुछ समझ में नहीं आया है। क्या आप इसको दूसरे ढंग से कह सकते हैं? क्या आप मुझे मेरे इस जाल से बाहर धकेल सकते हैं?

कृष्णमूर्ति :—आपको कोई भी आपके जाल से बाहर नहीं धकेल सकता है, कोई गुरु नहीं, कोई औषधि नहीं, कोई मन्त्र नहीं, कोई भी तो नहीं, मेरे सहित कोई भी नहीं। आपको जो कुछ करना है वह यह है कि शुरू से अन्त तक सजग रहना है; मध्य में भी अन्यमनस्क नहीं होना है। सजगता का यह नया गुणत्व ही "अवधान" है। इस अवधान की स्थिति में "अहम" द्वारा निर्मित कोई भी सीमा नहीं होती है। यह अवधानता सद्गुण का उच्चतम रूप है। यह सर्वोत्कृष्ट प्रज्ञा है। अगर आप मानव द्वारा निर्मित जालों के स्वभाव और संरचना के प्रति संवेदी नहीं हैं तो वहाँ अवधान की अवस्था हो ही नहीं सकती।

2

क्या भगवान है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैं सच में यह जानना चाहता हूँ कि वास्तव में क्या भगवान है ? अगर भगवान नहीं है तो जीवन अर्थहीन है। भगवान को न जानते हुए भी मनुष्य ने उसका हजारों विश्वासों व प्रतिमाओं में आविष्कार किया है। इन सब विश्वासों द्वारा जन्मे विभाजन और भय ने उसको अपने ही संगी-साथियों से अलग-थलग कर दिया है। इस पीड़ा व विभाजन के अनिष्ठ से बचने के लिए वह अन्य और भी विश्वासों का सृजन कर लेता है। बढ़ती हुई विपत्ति व अस्तव्यस्तता ने उसे चारों तरफ से घेर लिया है। हम जानते नहीं हैं इसीलिए विश्वास करते हैं। क्या मैं भगवान को जान सकता हूँ ? मैंने भारत में तथा यहाँ भी बहुत से साधु व सन्तों से यह प्रश्न पूछा है और सभी ने विश्वास पर बल दिया है। सबका यही कहना है कि "विश्वास करें तभी आप जानेंगे; बिना विश्वास के आप कभी भी नहीं जान सकते।" इस विषय में आपका क्या विचार है ?

कृष्णमूर्ति :—कुछ भी पता लगाने के लिए क्या विश्वास का होना जरूरी है ? जानने से सीखना कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। विश्वास के बारे में सीखना विश्वास का अन्त है। जब मानस विश्वास से मुक्त है तभी वह देख सकता है। यह विश्वास या अविश्वास ही हमें बाँधते हैं क्योंकि विश्वास और अविश्वास दोनों एक ही समान हैं, वह एक ही सिक्के के दो विपरीत पहलू हैं। सकारात्मक और नकारात्मक विश्वास को हम पूर्णतः एक तरफ रख सकते हैं। आस्तिक और नास्तिक एक ही समान हैं। जब यह वास्तव में ही घटित होता है तब "क्या भगवान है" प्रश्न का एक अलग ही अर्थ है। भगवान शब्द—अपनी सब परम्परा, स्मृति, बौद्धिक व भावप्रवण अभिधान सहित—भगवान नहीं है। कोई शब्द हकीकत नहीं होता। तो क्या मानस कभी शब्द से मुक्त हो सकता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे नहीं मालूम है कि इसका क्या अर्थ है।

कृष्णमूर्ति :—शब्द परम्परा है, आशा है, निरपेक्ष को पाने की इच्छा है, परम् को पाने का प्रयास है और अस्तित्व के लिए यह संजीवनी बूटी का काम करती है। इस तरह शब्द ही साध्य बन जाता है; इसके बावजूद भी हम देखते हैं कि शब्द वस्तु नहीं है। मानस ही शब्द है, और शब्द विचार है।

प्रश्नकर्त्ता :—और आप मुझसे कह रहे हैं कि मैं स्वयं को शब्द से निरावृत्त कर लूँ ? मैं यह कैसे कर सकता हूँ ? शब्द अतीत है, स्मृति है, पत्नी भी शब्द है और घर भी शब्द है। शुरू में शब्द ही तो था। शब्द अभिव्यक्ति का व तादात्म्य स्थापित करने का साधन है। आप वह नहीं हैं जो आपका नाम है तिस पर भी आप के बारे में मैं आपके नाम के बिना नहीं पूछ सकता। यह सब होते हुए भी आप मुझसे पूछ रहे हैं कि क्या मानस शब्द से मुक्त हो सकता है, अर्थात् क्या मानस अपनी ही क्रिया से मुक्त हो सकता है ?

कृष्णमूर्ति :—वृक्ष के सन्दर्भ में वस्तु हमारी आँखों के सामने है और सामान्य सहमति से वृक्ष शब्द वृक्ष की ओर संकेत करता है। भगवान शब्द के लिए ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसकी ओर शब्द संकेत कर सके, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी ही एक प्रतिमा का सृजन कर लेता है जिसका कोई भी सन्दर्भ नहीं होता। ब्रह्मविज्ञानी एक ढंग से करता है, बुद्धिजीवी दूसरे ढंग से, आस्तिक

और नास्तिक भी अपने-अपने ढंगों से इस प्रतिमा का सृजन कर लेते हैं। उम्मीद यह विश्वास पैदा करती है और फिर शुरू होती है तलाश। यह उम्मीद नैराश्य की उपजं है—नैराश्य जो हम अपने चारों तरफ दुनिया में देखते हैं। नैराश्य से आशा पैदा होती है; यह भी एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कहा जाता है—जहाँ आशा नहीं वहाँ नरक है और यह नरक का भय ही आशा को जीवन शक्ति प्रदान करता है। फिर भ्रांति की शुरुआत होती है। किसी भी तरह भगवान तक ना पहुँचा कर शब्द ने इस तरह भ्रांति तक पहुँचाया है। भगवान एक भ्रांति है जिसकी हम पूजा करते हैं। नास्तिक एक अलग ही ढंग से भगवान की भ्रांति का सृजन कर लेता है जिसे वह पूजता है—जैसे कि राज्य, यूटोपिया, या कोई पुस्तक जिसमें वह सोचता है कि सच्चाई छिपी है। इसीलिए हम आप से पूछते हैं कि क्या आप शब्द और उसकी भ्रांति से मुक्त हो सकते हैं ?

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे इस प्रश्न पर मनन करना होगा।

कृष्णमूर्ति :—अगर भ्रांति नहीं है तो बाकी क्या बचता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—केवल "जो है"।

कृष्णमूर्ति :—"जो है" ही पवित्र है।

प्रश्नकर्त्ता :—अगर "जो है" वह परम् पवित्र है तो युद्ध, घृणा, अस्तव्यस्तता, पीड़ा, धनलोलुपता, लूटमार, सभी कुछ परम् पवित्र होना चाहिए। तब तो हमें किसी भी परिवर्तन की बात नहीं करनी चाहिए। अगर जो है वह पावन है, तब प्रत्येक खूनी, डाकू और शोषक कह सकता है, "मुझे मत छूओ, मैं जो कर रहा हूँ वह पावन है।"

कृष्णमूर्ति :—"जो है" वह परम् पावन है" इस कथन की सरलता ही हमें बहुत बड़ी गलतफहमी की ओर ले जाती है, क्योंकि हम इसकी सच्चाई को नहीं देखते। अगर आप यह देखते कि जो है वह पावन है, तब आप खून नहीं करते, आप शोषण नहीं करते। यह सब करने के पश्चात् जिस सत्य का आपने उल्लंघन किया है आप उससे उन्मुक्ति का दावा नहीं कर सकते। गोरा व्यक्ति जो काले दंगाई से कहता है, "जो है वह पावन है, हस्तक्षेप मत करो, जलाओ मत" ने भी सच्चाई नहीं देखी है। अगर उसने देखी होती तो हब्शी भी उसके लिए पावन होता और तब जलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं होती। अतः अगर हम में से प्रत्येक यह सत्य देखे तो परिवर्तन स्वमेव होगा। इस सत्य का देखना ही परिवर्तन है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यहाँ पर यह पता लगाने आया था कि क्या भगवान है किंतु आपने तो मुझे बिलकुल उलझा दिया है।

कृष्णमूर्ति :—अच्छा, तो आप यह पूछने आये थे कि क्या भगवान है। हमने कहा : शब्द भ्रांति की ओर ले जाता है, जिसे हम पूजते हैं। इस भ्रांति की वजह से हम खुशी से एक दूसरे को नष्ट कर देते हैं। जब कोई भ्रांति नहीं रहती है तब "जो है" वही पावन है। चलिए, हम देखते हैं कि हकीकत क्या है। किसी प्रदत्त क्षण में "जो है" वह भय भी हो सकता है या घोर निराशा भी हो सकती है, या क्षणिक आनन्द भी हो सकता है। ये वस्तुएँ लगातार बदलती रहती हैं, और फिर वहाँ प्रेक्षक भी है, जो कहता है "मेरे चारों ओर की वस्तुएँ बदलती रहती हैं पर मैं चिरस्थायी हूँ।" क्या यही तथ्य है, क्या यही वास्तविकता है? क्या प्रेक्षक नहीं बदल रहा है—अपने में कुछ जोड़ता या घटाता हुआ, हेर-फेर और समन्वय करता हुआ, होता हुआ या ना होता हुआ। तो प्रेक्षक और प्रेक्षित दोनों ही लगातार बदल रहे हैं। "जो है" परिवर्तन है। यह एक तथ्य है। यही है जो है।

प्रश्नकर्त्ता :—तो क्या प्रेम भी परिवर्तनशील है? अगर सभी कुछ परिवर्तन की गति है तो क्या प्रेम भी इसी गति का एक हिस्सा नहीं है? अगर प्रेम परिवर्तनशील है तो मैं आज एक औरत से प्रेम कर सकता हूँ और कल किसी दूसरी के साथ सो सकता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—क्या यही प्रेम है? या आप यह कह रहे हैं कि प्रेम अपनी अभिव्यक्ति से भिन्न है। या फिर आप प्रेम की बजाय अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दे रहे हैं, इसी कारण विसंगति व द्वन्द्व पैदा कर रहे हैं। क्या प्रेम कभी परिवर्तन के पहिये की जकड़ में आ सकता है? अगर ऐसा है तो यह नफरत भी हो सकता है, तब तो प्रेम नफरत है, "जो है" वह परम पवित्र तभी है जब वहाँ कोई भ्रांति नहीं है। जब कोई भ्रांति नहीं है तब "जो है" वह भगवान है या भगवान शब्द की जगह आप और किसी नाम का भी प्रयोग कर सकते हैं। तो भगवान, या जो भी नाम आप इसे देना चाहें, तभी है जब आप नहीं हैं। जब आप हैं तो वह नहीं है। जब आप नहीं हैं, तो प्रेम है। जब "आप" हैं तो प्रेम नहीं है।

●

3

भय

प्रश्नकर्त्ता :—पहले मैं मादक द्रव्यों का सेवन करता था, पर अब उससे मेरा छुटकारा हो गया है। मैं सब चीजों से इतना भयभीत क्यों हूँ ? सुबह भय से अशक्त उठता हूँ। बड़ी मुशकिल से बिस्तर से बाहर निकल पाता हूँ। मुझे बाहर निकलते हुए भी डर लगता है और अन्दर रहते हुए भी डर लगता है। जब मैं अपना दिन व्यतीत कर रहा होता हूँ, अचानक ही यह भय मुझ पर छा जाता है, और मैं पूरे दिन पसीने में, घबराहट और अशक्त अवस्था में गुजारता हूँ, और शाम होते-होते पूरी तरह निढाल हो जाता हूँ। कभी-कभी मैं दोस्तों के साथ या फिर घर में माता-पिता के साथ शान्त, खुश व हल्का-फुल्का महसूस करता हूँ। आज जब मैं अपनी कार में आ रहा था तो मैं आप को मिलने से भयभीत था पर जैसे ही मैं दरवाजे की ओर बढ़ा कि अचानक ही भय मुझसे दूर हो गया। अब मैं इस सुन्दर शान्त कमरे में बैठा हूँ और इतना खुश हूँ कि सोचता हूँ कि आखिर किस चीज से मैं भयभीत

था। अब मुझे कोई भय नहीं है। मैं मुस्करा सकता हूँ और सच्चे दिल से कह सकता हूँ कि "आप से मिल कर बहुत खुशी हुई।" पर मैं हमेशा तो यहाँ नहीं रह सकता और मैं जानता हूँ कि जब मैं यहाँ से जाऊँगा तब भय के बादल मुझे फिर से घेर लेंगे। इसी सब का मुझे सामना करना पड़ता है। मैं यहाँ भी और विदेश में भी बहुत से मनश्चिकित्सकों व विश्लेषकों के पास गया, परन्तु वह सभी मेरी बचपन की स्मृतियों को खोजते रहे। मैं इस सब से उकता गया हूँ क्योंकि भय का अन्त तो हुआ नहीं।

कृष्णमूर्ति :—चलो हम बचपन की स्मृतियाँ व उन सभी बकवासों को भूल जाएँ और वर्तमान की ओर आएँ। आप यहाँ पर बैठे हैं और कहते हैं कि आप अब भयभीत नहीं हैं। आप क्षण भर के लिए खुश हैं और जिस भय में आप थे उसकी कल्पना आप मुश्किल से ही कर सकते हैं। अब आप को भय क्यों नहीं है? क्या यह शान्त, स्वस्थ्य, सन्तुलित कमरा जिसे सुरुचि से सजाया गया है, और यह स्वागत भरे उत्साह का भाव है जो आप महसूस कर रहे हैं? क्या इस वजह से अब आप भयभीत नहीं हैं?

प्रश्नकर्त्ता :—यह उसका एक भाग है। शायद आप की वहज से भी भय नहीं हो। मैंने आप को स्विटजरलैण्ड में भी वार्ता करते सुना, और यहाँ भी आप को सुना। मैं आप से एक प्रकार की गहरी मित्रता महसूस करता हूँ। लेकिन भयरहित होने के लिए मैं सुन्दर घर, स्वागत भरे वातावरण, अच्छे मित्रों पर निर्भर नहीं होना चाहता। जब मैं अपने माता-पिता के पास जाता हूँ तो इसी हार्दिकता को महसूस करता हूँ। पर घर पर तो यह बहुत ही घातक है। सभी परिवार अपनी परिबद्ध क्रियाओं, झगड़ों और व्यर्थ की ऊँची बातों की अभद्रता और मिथ्याचार सहित घातक हैं। मैं इस सब से ऊब गया हूँ। लेकिन फिर भी जब मैं उनके पास जाता हूँ तो वहाँ एक खास किस्म का स्नेह होता है और कुछ क्षणों के लिए मैं भयरहित महसूस करता हूँ। मेरा भय यह किस चीज के लिए है यह मनश्चिकित्सक भी नहीं बता सकते। वे लोग इसे "तैरता हुआ भय" कहते हैं। यह अन्धेरा, अथाह, भयंकर गड्ढा है। मैंने अपना विश्लेषण कराने पर बहुत पैसा खर्च किया है, पर इसने मेरी कोई सहायता नहीं की है। अब मैं करूँ तो क्या करूँ?

कृष्णमूर्ति :—क्या यह इस कारण है कि भावुक होने की वजह से आप को खास किस्म के शरणस्थल, एक विशेष सुरक्षा चाहिए, और इसे पाने में

असमर्थ होने के कारण आप इस भद्दी दुनिया से भयभीत हैं ? क्या आप भावुक हैं ?

प्रश्नकर्त्ता :—हाँ, मैं ऐसा सोचता हूँ। पर जिस अर्थ में आप सोचते हैं शायद वैसा नहीं, पर मैं भावुक तो हूँ। यह कोलाहल, हलचल, आधुनिक अस्तित्व की अभद्रता मुझे पसन्द नहीं है, और आजकल आप कहीं भी चले जाएँ, अनेक तरह से आप पर सेक्स थोपा जाता है और किसी तुच्छ पद तक पहुँचने के लिए रास्ता बनाने का यह धन्धा भी मुझे पसन्द नहीं है। मैं वास्तव में इन सबसे बहुत भयभीत हूँ—इस वजह से नहीं कि मैं अपने लिए पद पाने हेतु संघर्ष नहीं कर सकता—पर यह मुझे भय से पीड़ित कर देता है।

कृष्णमूर्ति :—बहुत से लोगों को जो भावुक होते हैं एक शान्त शरणस्थल व मैत्रीपूर्ण वातावरण की जरूरत होती है। या तो वे इसको अपने लिए सृजन कर लेते हैं या जो यह दे सकते हैं उन पर निर्भर करते हैं जैसे परिवार, पत्नी, पति, मित्र। क्या आपका कोई ऐसा मित्र है ?

प्रश्नकर्त्ता :—नहीं, नहीं, ऐसा मित्र बनाने से मुझे भय होता है। मैं उस पर निर्भर होने से भयभीत हूँ।

कृष्णमूर्ति :—तो अब विषय यह है : आप भावुक हैं और इस कारण एक विशेष शरणस्थल की माँग करते हैं और दूसरों पर शरणस्थल के लिए आश्रित हैं। भावुकता भी है और निर्भरता भी है और ये दोनों अक्सर इकट्ठे ही होते हैं। दूसरे पर आश्रित होने का मतलब है उसे खो देने का डर। आप अधिक, और अधिक, निर्भर होते चले जाते हैं। निर्भरता के समानुपात में भय भी बढ़ता चला जाता है। यह एक कुचक्र है। क्या आप ने कभी अन्वेषण किया है कि आप निर्भर क्यों हैं ? हम डाकिया पर निर्भर करते हैं और शारीरिक आराम पर भी निर्भर हैं, पर यह तो साधारण सी बात है। हम अपनी शारीरिक तन्दुरुस्ती व उत्तरजीवन के लिए अन्य मनुष्यों व वस्तुओं पर निर्भर करते हैं और यह निर्भरता तो सहज एवं स्वाभाविक है। समाज के उस पहलू पर जिसे हम संघठनात्मक कह सकते हैं हमें निर्भर होना ही पड़ता है। लेकिन हम मनोवैज्ञानिक रूप से भी तो निर्भर हैं और यह निर्भरता चाहे आरामदेह हो, पर भय पैदा करती है। आखिर हम मनोवैज्ञानिक रूप से निर्भर क्यों हैं ?

प्रश्नकर्त्ता :—आप तो मुझ से निर्भरता की बात कर रहे हैं, पर मैं तो भय की चर्चा के लिए आया था।

कृष्णमूर्ति :—आइये, हम दोनों की ही जाँच पड़ताल कर लेते हैं क्योंकि जैसा हम अभी देखेंगे, यह दोनों परस्पर सम्बन्धित हैं। अगर हम दोनों के विषय में चर्चा करें तो क्या आप को आपत्ती है? हम निर्भरता के बारे में बात कर रहे थे। निर्भरता क्या है? आप क्यों दूसरे पर मनोवैज्ञानिक रूप से निर्भर हैं? क्या निर्भरता मुक्ति का निषेध नहीं है? घर, पति, बच्चे, पत्नी, सम्पत्ति, इन सबको हटा दिया जाये तो फिर मनुष्य क्या है? स्वयं में तो वह न्यून, खोखला व भटका हुआ है। इस खोखलेपन से वह भयभीत है और सम्पत्ति, व्यक्तियों व विश्वासों पर निर्भर करता है। आप जिन वस्तुओं पर निर्भर करते हैं, उनके प्रति इतने निश्चित हो जाते हैं कि आप उनको खो देने की कभी कल्पना भी नहीं करते जैसे अपने परिवार का स्नेह व आराम। तब भी भय बना रहता है। हमें यह बिलकुल स्पष्ट हो जाना चाहिए कि किसी भी तरह की मनोवैज्ञानिक निर्भरता अनिवार्यतः भय पैदा करती है— यद्यपि जिन वस्तुओं पर आप निर्भर हैं वह लगभग अनश्वर ही प्रतीत होती हैं। आंतरिक न्यूनता, दारिद्रय और खोखलेपन से भय का जन्म होता है। तो अब, क्या आप देख रहे हैं कि हमारे पास तीन विषय हैं, भावुकता, निर्भरता और भय? यह तीनों परस्पर सम्बन्धित हैं। भावुकता को ही लीजिए : आप जितने ज्यादा संवेदनशील होंगे उतने ही अधिक निर्भर होंगे [जब तक आप यह नहीं समझ लेते कि बिना निर्भरता के संवेदनशील कैसे हो सकते हैं, बिना यन्त्रणा के आप कैसे नाजुक हो सकते हैं] अब निर्भरता को लीजिए : जितने अधिक आप निर्भर होंगे उतनी ही अधिक घृणा और उससे मुक्त होने की माँग होगी। यह मुक्ति की माँग भय को बढ़ावा देती है क्योंकि यह माँग एक प्रतिक्रिया है न कि निर्भरता से मुक्ति।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप किसी चीज पर निर्भर हैं?

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल। शारीरिक रूप से मैं भोजन, कपड़े और शरणस्थल पर निर्भर हूँ, पर मनोवैज्ञानिक रूप से, भीतरी रूप से किसी भी वस्तु पर

निर्भर नहीं हूँ—भगवान पर, सामाजिक नैतिकता, विश्वासों और व्यक्तियों पर भी नहीं। पर मैं निर्भर हूँ या नहीं यह अप्रासंगिक है। तो वातचीत को जारी रखें : हमारा भीतरी खोखलापन, एकाकोपन, अल्पता, और इनके प्रति कुछ न कर सकने की क्षमता की सजगता ही भय है। हमारा सरोकार केवल उसी भय से है जो निर्भरता पैदा करता है और फिर जिससे निर्भरता को अधिक वढ़ावा मिलता है। अगर हम भय को समझते हैं तो हम निर्भरता को भी समझते हैं। भय को समझने के लिए हमारे में खोज करने की और यह भय अस्तित्व में आता कैसे है यह समझने की संवेदनशीलता होनी चाहिए। अगर आप संवेदनशील हैं तो आप अपने असाधारण खोखलेपन के प्रति सजग हो जाते हैं। यह खोखलापन एक ऐसा अथाह गड्ढा है जो औषधियों के अभद्र मनोरंजन से, मन्दिरों के मनोरंजन से या समाज के मनोविनोद से नहीं भर सकता। और यह जानते हुए भय और भी वढ़ जाता है। यह आपको और भी निर्भर वना देता है। यह निर्भरता आपको अधिकाधिक असंवेदनशील वनाती है। यह जानते हुए कि यह ऐसा है, आप और भी भयभीत हो जाते हैं। तो अव हमारा प्रश्न यह है कि : कैसे कोई इस खोखलेपन से, इस एकाकीपन से परे जा सकता है—वल्कि प्रश्न यह नहीं है कि कैसे आप आत्म निर्भर हो सकते हैं या आप कैसे खोखलापन को हमेशा के लिए ढंक सकते हैं ?

प्रश्नकर्त्ता :—आप ऐसा क्यों कहते हैं कि प्रश्न आत्मनिर्भर बनने का नहीं है ?

कृष्णमूर्ति :—क्योंकि अगर आप आत्मनिर्भर हैं तो आप संवेदनशील नहीं हैं; आप दंभी, कठोर, उदासीन, और परिवद्ध हो जाते हैं। विना निर्भरता के होने का मतलव है निर्भरता से परे जाना, इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्म-निर्भर हो जाना। विना किसी दिशा में पलायन के क्या मानस इस खोखलेपन का सामना कर सकता है, इसे जी सकता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे हमेशा इसके साथ रहना होगा, यह सोचना ही मुझे पागल वना देगा।

कृष्णमूर्ति :—इस खोखलेपन से अलग होकर कोई भी गति मात्र पलायन है। किसी चीज से अलग या "जो है" उससे अलग कोई भी उड़ान भय है। किसी चीज से परे भागना ही भय है। "जो है" वह भय नहीं है, यह तो भागना है

जो भय है, और यह भागना आपको पागल बना देगा न कि स्वयं का खोखलापन। तो यह खोखलापन, एकाकीपन क्या है? यह कैसे पैदा होता है? निश्चय ही यह तुलना करने से और नाप तौल से आता है—क्या ऐसा नहीं है? साधु, सिद्ध पुरुष या महान् संगीतज्ञ से, या फिर उस व्यक्ति से जो जानता है या उस व्यक्ति से जो पहुँचा हुआ है, से मैं अपनी तुलना करता हूँ। इस तुलना में स्वयं को मैं न्यून व अपर्याप्त पाता हूँ; मुझमें कोई भी प्रतिभा नहीं है; मैं निम्न स्तर का हूँ; मैंने कुछ भी चरितार्थ नहीं किया; मैं कुछ नहीं हूँ और वह व्यक्ति सब कुछ है। इस नाप-तौल और तुलना से खोखलेपन और तुच्छता की विशाल गुहिका उपजती है। इस गुहिका से दूर भागना ही भय है। और भय इस अथाह गड्ढे को समझने से हमें रोकता है। यह तो विक्षिप्तता है जो स्वयं से ही पोषित है। यह तुलना, यह नाप-तौल ही निर्भरता का सार है। इस तरह आप देखिए, हम फिर से निर्भरता पर पहुँच गये। यह एक कुचक्र है।

प्रश्नकर्ता :—इस चर्चा में हम काफी आगे आ गये हैं, और विषय अधिक स्पष्ट हो गया है। हम देखते हैं कि वहाँ निर्भरता है, पर क्या निर्भर न होना सम्भव है? हाँ, मैं सोचता हूँ कि यह सम्भव है। फिर भय भी है; तो क्या खोखलेपन से दूर न भागना सम्भव है, जिसका अर्थ है भय से परे न भागना? हाँ, मैं सोचता हूँ कि यह भी सम्भव है। अर्थात् हमारे पास केवल खोखलापन बचता है। तब क्या इस खोखलेपन का सामना करना सम्भव है क्योंकि भय द्वारा पलायन पर तो हमने रोक लगा दी है? हाँ मैं सोचता हूँ कि यह भी सम्भव है। अन्त में, क्या तुलना व नाप तौल न करना सम्भव है? अगर हम यहाँ तक पहुच गये हैं—और मैं सोचता हूँ कि हम पहुँच ही गये हैं—तो केवल खोखलापन बाकी बचता है, और हम यह देखते हैं कि यह खोखलापन तुलना का ही नतीजा है। हम देखते हैं कि निर्भरता और भय इस खोखलेपन के ही परिणाम हैं। तो अब है—तुलना, खोखलापन, भय और निर्भरता। क्या सचमुच मैं बिना तुलना, बिना नाप तौल के जीवन जी सकता हूँ?

कृष्णमूर्ति :—पर फर्श पर गलीचा बिछाने के लिए तो आपको नाप लेना ही होगा।

प्रश्नकर्ता :—हाँ, वह तो ठीक है, पर मेरा मतलब है कि क्या बिना मनोवैज्ञानिक तुलना के मैं जी सकता हूँ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आप को पता है कि बिना मनोवैज्ञानिक तुलना के जीने का क्या अर्थ है—जबकि जीवन भर आपको तुलना करने के लिए प्रतिबद्ध किया गया है, स्कूल में, खेलों में, विश्वविद्यालय और दफ्तरों में ? सब कुछ तुलना है। बिना तुलना के जीना ! आपको मालूम है इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ है कोई निर्भरता नहीं है, कोई आत्मनिर्भरता भी नहीं, कोई तलाश या मांग भी नहीं है; अतः इसका मतलब है प्रेम। प्रेम में कोई तुलना नहीं है, इसीलिए प्रेम में भय भी नहीं है। प्रेम अपने प्रेम के रूप से सजग भी नहीं है, क्योंकि शब्द तो वस्तु है नहीं।

4

कैसे जीएँ इस दुनिया में

प्रश्नकर्त्ता :—महाशय, कृपया क्या आप मुझे बतायेंगे कि मैं कैसे इस दुनिया में जीऊँ ? मैं इसका एक हिस्सा भी नहीं बनना चाहता, फिर भी मुझे तो इस दुनिया में ही जीना है; मुझे एक घर चाहिए और मुझे जीविकोपार्जन भी करना है। मेरे पड़ोसी भी इसी दुनिया के हैं; मेरे बच्चे उनके बच्चों के साथ खेलते हैं, इस तरह सभी इस अप्रिय बखेड़े का हिस्सा बन जाते हैं, चाहे वह चाहें या ना चाहें। मैं यह जानना चाहता हूँ कि बिना पलायन किए हुए इस दुनिया में कैसे जीया जा सकता है ? बिना मठ में गये या पाल-नौका में दुनिया के इर्द-गिर्द बिना जाए इस दुनिया में कैसे जीया जा सकता है ? मैं अपने बच्चों को भिन्न प्रकार से शिक्षित करना चाहता हूँ, पर पहले यह जानना चाहता हूँ कि हिंसा, लालच, ढोंगीपन, प्रतियोगिता और पाशविकता से घिरे होने पर भी जीया कैसे जा सकता है ?

कृष्णमूर्ति :—हमें इसको समस्या नहीं बनाना है। जब कोई चीज समस्या बन जाती है तो हम उसके समाधान में फँस जाते हैं, तब समस्या एक पिंजरा बन जाती है और अन्वेषण व समझ में वह बाधा बन जाती है। तो हमें पूरी जिन्दगी को एक अपार, एक पेंचीदा समस्या में नहीं बदलना है। जिस समाज में हम रहते हैं उसे पराजित करने के लिए, या उसके स्थान पर और कुछ ढूँढ़ने के लिए, या समाज में रहते हुए उससे पलायन की कोशिश करने के लिए अगर यह प्रश्न पूछा गया है, तब तो यह निश्चय ही अन्तर्विरोधी व ढोंगी जीवन की ओर ले जायेगा। इस प्रश्न का अर्थ यह भी है कि आदर्शवाद का पूर्ण खण्डन—क्या यह नहीं है? अगर आप वास्तव में ही कोई छानबीन कर रहे हैं तो आप किसी निष्कर्ष से आरम्भ नहीं कर सकते और सभी आदर्शवाद निष्कर्ष है। जीने से आपका क्या अर्थ है यह खोज करते हुए हमें आरम्भ करना है।

प्रश्नकर्त्ता :—महाशय, कृपया इसके बारे में हमें क्रम से आगे बढ़ना चाहिये।

कृष्णमूर्ति :—मैं बहुत खुश हूँ कि पूछताछ करने वाले मानस और हृदय से क्रमशः व धैर्यता से हम आगे बढ़ रहे हैं। अच्छा, अब बताइए कि जीने से आपका क्या अर्थ है?

प्रश्नकर्त्ता :—मैंने इसको कभी भी शब्दों में ढालने की कोशिश ही नहीं की। मैं तो हक्का-बक्का रह गया हूँ; मैं नहीं जानता कि मुझे क्या करना है या कैसे जीना है। मेरा हर वस्तु में विश्वास उठ गया है—धर्म, दर्शन और राजनीतिक यूटोपिया से। मनुष्यों का आपस में व राष्ट्रों का आपस में युद्ध है। इस अनुज्ञात्मक समाज में सभी कुछ चलता है—मारधाड़, दंगेबाजी, एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र द्वारा मानवद्वेषी दमन, कोई भी इसके लिए कुछ नहीं कर सकता क्योंकि हो सकता है कि हस्तक्षेप का अर्थ विश्व युद्ध हो। मेरा इन सबसे सामना होता है, मैं नहीं जानता कि मुझे क्या करना है, मैं नहीं जानता कि किस तरह जीना है। मैं इस प्रकार की अस्तव्यस्तता के मध्य नहीं जीना चाहता।

कृष्णमूर्ति :—आप किस चीज के बारे में पूछ रहे हैं—एक भिन्न प्रकार का जीवन या एक अभिनव जीवन जो कि पुराने जीवन की समझ से आता है? अगर आप यह समझे बिना ही कि किस वजह से यह अस्तव्यस्तता हुई, भिन्न प्रकार का जीवन जीना चाहते हैं, तो आप हमेशा अन्तर्विरोध, द्वन्द्व और

अस्तव्यस्तता में रहेंगे। यह तो अभिनव जीवन नहीं है। तो क्या आप नवीन जीवन के बारे में या पुराने जीवन की किंचित परिवर्तित निरन्तरता के बारे में पूछ रहे हैं, या आप पुराने जीवन को समझना चाहते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे पक्का पता नहीं है कि मैं क्या चाहता हूँ, पर मैं क्या नहीं चाहता यह मैंने समझना आरम्भ कर दिया है।

कृष्णमूर्ति :—जो आप नहीं चाहते हैं क्या वह आप की स्वतन्त्र समझ पर या आपके सुख-दुःख पर आधारित है? क्या आप यह निर्णय अपने विद्रोह के कारण कर रहे हैं, या आप इस द्वन्द्व व व्यथा के कारणत्व को देख रहे हैं और क्योंकि आप इसे देख रहे हैं इसलिए इसे अस्वीकार करते हैं?

प्रश्नकर्त्ता :—आप तो मुझसे बहुत ज्यादा बातें पूछ रहे हैं। जो कुछ मैं जानता हूँ वह यह है कि मैं एक भिन्न प्रकार का जीवन जीना चाहता हूँ। मैं नहीं जानता कि इसका क्या अर्थ है, मैं नहीं जानता कि मैं क्यों इसकी तलाश कर रहा हूँ, और जैसा मैंने कहा, मैं इस सबसे बहुत ही अधिक स्तम्भित हूँ।

कृष्णमूर्ति :—आपको इस संसार में कैसे जीना है—यह आपका मूल प्रश्न है, है कि नहीं? इससे पहले कि आप यह पता लगाएँ, चलिए, देखते हैं कि यह दुनिया क्या है? संसार केवल वही नहीं है जो हमें घेरे हुए है, वस्तुओं से, लोगों से, अपने आप और संकल्पना से, बल्कि हमारा उनसे सम्बन्ध भी संसार ही है। अर्थात् हमारा सम्बन्ध जमीन, जायदाद, लोगों व अवधारणाओं से है—और असल में तो घटनाओं के उस प्रवाह से भी है जिसे हम जिन्दगी कहते हैं। यही संसार है। हम राष्ट्रीयताओं में, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और जातीय गुटों में विभाजन देखते हैं। समस्त संसार बाहर से उतना ही भग्न व खण्डित है जितना कि भीतर से मानव है। दरअसल यह बाहरी खण्डन मानव के आन्तरिक विभाजन का प्रकटीकरण है।

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ, मैं स्पष्टतः यह खण्डन देखता हूँ और यह भी देखने लगा हूँ कि मानव ही इस सबका उत्तरदायी है।

कृष्णमूर्ति :—आप ही मानव हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—जो मैं स्वयं हूँ क्या उससे भिन्न रूप से जी सकता हूँ ? अचानक ही यह स्पष्ट हो रहा है कि अगर मुझे नितान्त भिन्न ढंग से जीना है तो मुझमें होना चाहिए एक नया जन्म, एक नया मानस, नया हृदय व नई आँखें। मैं यह भी महसूस करता हूँ कि यह नहीं हुआ है। जिस ढंग का मैं हूँ वैसे ही मैं रहता हूँ, जिस ढंग का मैं हूँ उसने जिन्दगी को भी वैसा ही बना दिया है। लेकिन अब यहाँ से कोई कहाँ जाए ?

कृष्णमूर्ति :—आप यहाँ से जायेंगे कहाँ ! कहीं जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है। प्रस्थान और आदर्श—जिसे हम सोचते हैं कि बेहतर है—की तलाश, हमें ऐसा आभास देती है कि हम उन्नति कर रहे हैं, और एक बेहतर संसार की ओर अग्रसर हैं, लेकिन यह गति कोई गति नहीं है, क्योंकि ध्येय तो हमारी व्यथा, अस्तव्यस्तता, लालच और डाह से प्रक्षेपित है। अतः यह ध्येय जिसे "जो है" का विपरीत समझा जाता है, वास्तव में "जो है" के समान है, तथा "जो है" द्वारा ही उत्पादित है। अतः यह "जो है" तथा "जो होना चाहिए" के बीच द्वन्द्व उत्पन्न करता है। यहीं से हमारी मौलिक अस्तव्यस्तता व द्वन्द्व उठ खड़ा होता है। अन्त वहाँ नहीं है; दीवार के दूसरी तरफ नहीं है; आरम्भ और अन्त दोनों यहीं हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—महोदय कृपया एक क्षण रुकिए, मुझे तो यह बिलकुल ही समझ में नहीं आ रहा है। क्या आप मुझे यह बता रहे हैं कि जो होना चाहिए का आदर्श "जो है" की समझ न होने का परिणाम है ? क्या आप यह बता रहे हैं कि जो होना चाहिए वह "जो है" ही है। और यह "जो है" से "जो होना चाहिए" की ओर की गति वास्तव में कोई गति ही नहीं है ?

कृष्णमूर्ति :—यह तो एक अनुमान है, एक कल्पना है। अगर आप 'जो है' को समझते हैं, तो जो होना चाहिए कि क्या जरूरत है ?

प्रश्नकर्त्ता :—क्या यह ऐसा है ? "जो है" को मैं समझता हूँ। मैं युद्ध की पाशविकता, मारधाड़ के संग्राम को समझता हूँ। और क्योंकि मैं उसे समझता हूँ इसीलिए न मारने का मेरा यह आदर्श है। यह आदर्श "जो है" की समझ से ही पैदा होता है। इसीलिए यह पलायन नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप यह समझते हैं कि मार-पीट भयानक है तो क्या न मारने के लिए आपके पास आदर्श होना जरूरी है ? शायद हमें 'समझ' शब्द स्पष्ट नहीं है। जब हम यह कहते हैं कि हमें किसी चीज की समझ है तो निहितार्थ है कि जो कुछ यह शब्द बतलाना चाहता है वह हमने सीख लिया है, क्या ऐसा नहीं है ? हमने इसका अन्वेषण किया है, सत्यता और असत्यता को खोज लिया है। इसका अर्थ यह भी है कि यह समझ कोई बौद्धिक मामला नहीं है, पर आपने इसे अपने दिल की गहराई से महसूस किया है, क्या इसका यह अर्थ नहीं है ? जहाँ मानस और हृदय का पूर्ण तालमेल है, वहीं समझ है। फिर आप यह कहते हैं कि "मुझे इसकी समझ है और इसका समापन हो गया है. इसमें और अधिक द्वन्द्व पैदा करने की शक्ति नहीं है"। क्या हम दोनों समझ शब्द को एक ही अर्थ देते हैं ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैंने पहले तो एक-ही अर्थ नहीं दिया था, पर अब देखता हूँ कि आप जो कह रहे हैं वह ठीक है। फिर भी ईमानदारी से दुनिया की पूर्ण अव्यवस्था को उस ढंग से नहीं समझता, जैसा आपने संकेत किया, यानि कि यह मेरी स्वयं की अव्यवस्था है। मैं इसे कैसे समझ सकता हूँ ! मैं कैसे सम्पूर्ण रूप से इस अव्यवस्था, दुनिया की समूची अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता के बारे में और स्वयं के बारे में सीख सकता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—कृपया, "कैसे" शब्द का प्रयोग न करे।

प्रश्नकर्त्ता :—क्यों नहीं ?

कृष्णमूर्ति :—"कैसे" का निहितार्थ है कोई व्यक्ति आपको एक विधि, एक नुस्खा बताने जा रहा है, जिसका अगर आपने अभ्यास किया तो आपको समझ आ जायेगी। क्या समझ किसी विधि से आ सकती है ? समझ का अर्थ प्रेम और स्वस्थचित्तता। प्रेम का अभ्यास नहीं किया जा सकता या इसे सिखाया नहीं जा सकता। स्वस्थचित्तता तो तभी आ सकती है जब वस्तुओं का स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञान हो जैसे वह हैं वैसे ही, न कि भावुकता या भावप्रवणता से। इसमें से कुछ भी आप या किसी अन्य द्वारा अविष्कारित प्रणाली से नहीं सिखाया जा सकता।

प्रश्नकर्त्ता :—महाशय, आप बहुत ही विश्वासोत्पादक हैं, या आप बहुत ही तर्कशील हैं ? क्या आप मुझे प्रभावित करने की कोशिश कर रहे हैं कि वस्तुओं को मैं आप की भाँति देखूँ ?

कृष्णमूर्ति—भगवान बचाए ! किसी भी रूप में प्रभाव डालना प्रेम का विनाशक है। मानस को संवेदनशील, सतर्क बनाने का कोई भी प्रचार इसको नीरस व असंवेदनशील ही बनायेगा। अतः हम किसी भी ढंग से आप को प्रभावित करने की, राज़ी करने की या निर्भर बनाने की कोशिश नहीं कर रहे हैं। हम तो मात्र संकेत कर रहे हैं, एक साथ अन्वेषण कर रहे हैं। एक साथ अन्वेषण के लिए आपको मुझसे मुक्त होना चाहिये और आप के अपने भय और पूर्वाग्रहों से भी मुक्त होना चाहिए। अन्यथा आप एक घेरे में गोल-मोल ही घूमते रहेंगे। तो हम वापस अपने मूल प्रश्न पर आते हैं। मैं कैसे इस दुनिया में जीऊँ ? इस दुनिया में जीने के लिए हमें दुनिया का निषेध करना होगा। इससे हमारा मतलब है: आदर्श, युद्ध, विखण्डन, प्रतियोगिता, डाह, इत्यादि-इत्यादि का निषेध। हमारा मतलब यह नहीं है कि दुनिया का निषेध ऐसे करो जैसे कोई स्कूल का विद्यार्थी अपने अभिभावकों से विद्रोह करता है। हमारा मतलब है कि इसका निषेध इसलिए करो क्योंकि हमने इसको समझ लिया है। यह समझ ही निषेध है।

प्रश्नकर्त्ता : —मैं तो अथाह जल में हूँ, यह मैं समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—आपने कहा कि आप दुनिया की अस्तव्यस्तता, बेईमानी और भद्दपन में जीना नहीं चाहते हैं। इसीलिए आप इसका निषेध करते हैं। आप किस पृष्टभूमि से इसका निषेध करते हैं, और यह भी कि आप इसका निषेध क्यों करते हैं ? आप इसका इसलिए निषेध करते हैं क्योंकि आप शान्त जीवन जीना चाहते हैं, घेराव और सुरक्षा से पूर्ण जीवन, या इसका इसलिए निषेध करते हैं क्योंकि आपने जो यह हकीकत है उसे देखा है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैं सोचता हूँ कि मैं इसका निषेध इसलिए करता हूँ कि जो कुछ मेरे आस-पास घट रहा है वह मैं देखता हूँ। मेरा पूर्वाग्रह और भय भी इसमें सम्मिलित है। जो कुछ घट रहा है तथा मेरी अपनी चिन्ता, इन सबका यह एक मिश्रण है।

कृष्णमूर्तिः—कौन प्रबल है—आपकी चिन्ता या जो आपके आस-पास है उसे वस्तुतः देखना ? अगर भय प्रधान है तो जो आप के आस-पास हो रहा है वह आप नहीं देख सकते, क्योंकि भय तो अंधेरा है और अंधेरे में आप कुछ भी नहीं देख सकते। अगर आप यह स्पष्ट अनुभव करते हैं तब आप दुनिया जैसी है

वैसी ही देख सकते हैं, तब आप अपने आप को जैसे आप वास्तव में है वैसा ही देख सकते हैं। क्योंकि आप संसार हैं, और संसार आप हैं; यह दो भिन्न ईकाइयाँ नहीं हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं संसार हूँ और संसार मेरा ही रूप है, इससे आप क्या अर्थ लगाते हैं ? क्या इसे आप और अधिक स्पष्ट करेंगे ?

कृष्णमूर्ति :—क्या सचमुच इसे स्पष्टीकरण की आवश्यकता है ? 'आप क्या हैं', क्या आप चाहते हैं कि मैं विस्तार से इसकी व्याख्या करूँ और यह भी सिद्ध करूँ कि आप जो हैं और संसार जो है, यह दोनों एक समान है ? आप संसार हैं, क्या यह व्याख्या आप को सन्तुष्ट करेगी ? कारण-परिणाम को सिद्ध करते हुए, तर्कसंगत, अनुक्रमिक स्पष्टीकरण से क्या आप सन्तुष्ट होंगे ? अगर आप सुविचारित व्याख्या से सन्तुष्ट होते हैं, तो क्या यह आप को समझ प्रदान करती हैं। क्या यह व्याख्या आपको अनुभव करा पायेगी कि आप दुनिया हैं, क्या आपको दुनिया के प्रति उत्तरदायी महसूस करायेगी ? यह कितना स्पष्ट है कि मानवीय लालच ने, डाह, आक्रमण व हिंसा ने, इस समाज को जिसमें हम रहते हैं, को पैदा किया है तथा जो हम हैं का कानूनी स्वीकरण भी। मेरे विचार से यह काफी स्पष्ठ है और हमें इस विषय पर अधिक समय व्यतीत नहीं करना चाहिए। हम इसे महसूस नहीं करते, हम प्रेम नहीं करते, इसी कारण मेरे और संसार के बीच यह विभाजन है, क्या आप यह समझ रहे हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैं कल पुनः आ सकता हूँ ?

× × ×

उत्सुकता से वह अगले दिन पुनः आया और उसकी आखों में छानबीन करने का चमकदार प्रकाश था।

प्रश्नकर्ता :—अगर आप इच्छुक हैं तो मैं इस प्रश्न की कुछ और अधिक जाँच करना चाहता हूँ कि मैं इस संसार में कैसे जीऊँ ! जैसे आप ने कल स्पष्ट किया, अब मैं अपने हृदय व मानस से आदर्शों की नितान्त महत्वहीनता को समझता हूँ। कल मैं इस प्रश्न पर बहुत देर तक विचार करता रहा और अब मैं आदर्शों

की नगण्यता को देखता हूँ। आप यही कह रहे हैं कि जब वहाँ कोई आदर्श या पलायन नहीं है, तो केवल अतीत है अर्थात हजारों बीते हुए कल जिनसे "अहम" बनता है। क्या आप यह नहीं कह रहे हैं ? तो अब जब मैं यह पूछता हूँ कि "कैसे मैं इस दुनिया में जीऊँ" तब मैंने ना केवल एक गलत प्रश्न पूछा है बल्कि मैंने एक अन्तर्विरोधी कथन भी कहा है, क्योंकि मैंने "अहम" और संसार को एक दूसरे के विरूद्ध खड़ा कर दिया। इस अन्तर्विरोध को ही मैं जीवन का नाम दे देता हूँ। "कैसे इस दुनिया में मैं जीऊँ", जब मैं यह प्रश्न पूछता हूँ, तब मैं वास्तव में इस विरोध को सुधारने का, उचित सिद्ध करने का, किंचित परिवर्तन करने का, प्रत्यन कर रहा हूँ, क्योंकि यही सब कुछ है जो मैं जानता हूँ। इसके अलावा मैं और कुछ भी नहीं जानता।

कृष्णमूर्ति :—तो अब हमारा प्रश्न यह है : क्या जीवन को हमेशा अतीत में होना है, क्या सभी क्रिया को अतीत से उगना है, क्या सभी सम्बन्ध अतीत का ही नतीजा है, क्या जीवन अतीत की एक पेंचीदा स्मृति है ? अतीत वर्तमान को किंचित परिवर्तित करता है—बस, यही हम जानते हैं। भविष्य इस अतीत का ही परिणाम है जो वर्तमान के जरिए क्रियाशील है। तो अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी अतीत है। जिसे हम जीवन कहते हैं वह अतीत है। मानस, मस्तिष्क व मनोभाव अतीत हैं। इनसे उत्पन्न कोई भी क्रिया ज्ञात की ही निश्चित क्रिया है। यह समग्र प्रक्रिया, सभी सम्बन्ध और सभी क्रिया जिसे आप जानते हैं, यही सब मिलकर आपका जीवन है। अतः जब आप यह पूछते हैं कि आप कैसे इस दुनिया में जीए, तो आप केवल बन्दीगृह के परिवर्तन की माँग कर रहे हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मेरा मतलब यह नहीं था। मेरा मतलब यह है कि : मैं बहुत स्पष्ट रूप से देखता हूँ कि मेरी सोच विचार की प्रक्रिया और कार्यकलाप अतीत हैं, जो वर्तमान के माध्यम से भविष्य की ओर कार्यशील हैं। बस यही मैं जानता हूँ, और यह एक तथ्य है। मैं यह प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा रहा हूँ कि जब तक संरचना में परिवर्तन नहीं होगा, मैं इसी में फंसा रहूँगा व मैं इसी का रहूँगा। यह सब देखते हुए निश्चय ही प्रश्न उठता है कि : मुझे कैसे परिवर्तित होना है ?

कृष्णमूर्ति :—विवेकपूर्ण ढंग से इस संसार में रहने के लिए मानस व हृदय का आमूल परिवर्तन होना होगा।

प्रश्नकर्त्ता :—यह तो ठीक है, पर परिवर्तन से आप का तात्पर्य क्या है ? जो कुछ भी मैं करता हूँ वह यदि अतीत की ही गति है तो मैं कैसे परिवर्तित हो सकता हूँ ? केवल मैं ही स्वयं को बदल सकता हूँ, कोई और मुझे नहीं बदल सकता। और मुझे यह पता नहीं है कि परिवर्तित होने का क्या अर्थ है।

कृष्णमूर्ति :—तो अब प्रश्न यह नहीं रहा कि "मै संसार में कैसे जीऊँ" बल्कि यह प्रश्न "मैं कैसे परिवर्तित हो सकता हूँ" का रूप ले लेता है—यह ध्यान रखते हुए कि 'कैसे' का अर्थ कोई पद्धति नहीं है पर समझ के लिए छानबीन है। परिवर्तन क्या है ? क्या कहीं कोई परिवर्तन है भी ? या क्या कहीं कोई परिवर्तन है, यह प्रश्न आप केवल पूर्ण परिवर्तन और उतक्रान्ति के पश्चात् ही पूछ सकते हैं ? इस संसार का क्या अर्थ है, चलिए फिर से पता लगाना शुरू करते हैं। परिवर्तन का अर्थ है, 'जो है' उससे किसी अलग चीज की तरफ गति। क्या यह अलग चीज मात्र एक विरोधी है या यह बिलकुल ही अलग वर्ग से सम्बन्धित है ? अगर यह मात्र विरोधी है तब यह भिन्न नहीं है, क्योंकि सभी विरोधी परस्पर पर निर्भर है, जैसे गर्म एवं ठंडा, ऊँचा व नीचा। विरोधी अपने ही विरोध में निहित है और उसी से निर्धारित होता है; यह केवल तुलना से ही अस्तित्व में है। तुलनात्मक वस्तुओं के एक ही प्रकार के भिन्न-भिन्न मापदण्ड हैं, इसीलिए वह समान है। अतः विपरीतता की तरफ परिवर्तन कोई परिवर्तन नहीं है। यद्यपि जो अलग सा प्रतीत होता है उसकी तरफ प्रस्थान आपको यह प्रतीती देता है कि आप वास्तव में कुछ कर रहे हैं, पर यह एक भ्रांति है।

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे इसको आत्मसात् करने दिजिए।

कृष्णमूर्ति :—अब हमारा सरोकार किस चीज से हैं ? अतीत से जो सम्बन्धित नहीं हो ऐसी एक नई अवस्था का हमारे अन्दर जन्म होना क्या सम्भव है ? इस छानबीन के लिए अतीत अप्रासंगिक व नगण्य है, क्योंकि नई अवस्था के लिए यह असंगत है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप कैसे कह सकते हैं कि यह नगण्य व अप्रासंगिक है ? हम बराबर कहते रहे हैं कि अतीत ही तो प्रश्न का विषय है और अब आप कहते हैं कि यह अप्रासंगिक है।

कृष्णमूर्ति :—अतीत ही एकमात्र विषय प्रतीत होता है क्योंकि यही एक चीज है जिसने हमारे मानस व हृदय को जकड़ रखा है। सिर्फ यही हमारे लिए क्यों महत्त्वपूर्ण है ? हम क्यों इसको इतना महत्त्व देते हैं ? क्यों यह छोटा सा अन्तराल इतना महत्त्वपूर्ण है ? अगर आप इसमें पूर्णतः डूबे हुए हैं, इसमें बिलकुल फँसे हुए हैं, तब आप कभी भी परिवर्तन के विषय में नहीं सुनेंगे। सुनने के लिए, छानवीन और पूछताछ के लिए, केवल वही व्यक्ति समर्थ है जो समग्र रूप से वचनवद्ध नहीं है। केवल तभी वह इस छोटे से अन्तराल की नगण्यता को देख सकता है। क्या आप बिलकुल डूबे हुए हैं या आपका सिर पानी से बाहर है ? अगर आप का सिर पानी से ऊपर है तब आप देख सकते हैं कि यह छोटी सी वस्तु नगण्य है। तभी आप के पास इधर-उधर देखने का सामर्थ्य होगा। आप कितने गहरे डूबे हुए हैं ? इसका उत्तर आप के सिवाय और कोई नहीं दे सकता। इस प्रश्न के पूछने में ही मुक्ति है, इसलिए आप भयभीत नहीं हैं। तब आपका दृष्टिक्षेत्र व्यापक है। जब यह अतीत की संरचना आपको गले से पकड़ लेती है तब आप मौन स्वीकृति देते हैं, उसे मान लेते हैं, आज्ञा पालन करते हैं, अनुगमन व विश्वास करते हैं। जब आप इसके प्रति सजग होते हैं कि यह मुक्ति नहीं है, तभी आप इससे बाहर निकलना आरम्भ कर देते हैं। हम फिर से पूछते हैं—परिवर्तन क्या है और क्रान्ति क्या है ? ज्ञात से ज्ञात की ओर की गति परिवर्तन नहीं है, और सभी राजनीतिक क्रांतियाँ यही हैं। इस प्रकार के परिवर्तन की हम बात नहीं कर रहे हैं। पापी से साधु बनने का विकास तो एक भ्रांति से दूसरी भ्रांति की ओर का ही विकास है। यहाँ से वहाँ की गति के रूप में परिवर्तन से अब हम आजाद हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैंने सचमुच यह समझ लिया है ? जब मुझ में क्रोध, हिंसा व भय उद्भावित होते हैं तो मैं इनका क्या करूँ ? क्या मैं इनकी लगाम ढीली छोड़ दूँ ? मैं इनसे कैसे व्यवहार करूँ ? कुछ तो परिवर्तन होना ही है, अन्यथा जैसा मैं पहले था वैसा ही अब हूँ।

कृष्णमूर्ति :—क्या आपको यह बिलकुल स्पष्ट है कि ये वस्तुएँ इनकी विरोधी वस्तुओं से नहीं जीती जा सकती हैं ? अगर आपको यह समझ में आ गया है तो आप के पास केवल हिंसा, डाह, क्रोध व लालच है। यह भाव चुनौती

के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होते हैं, फिर होता है इनका नामाकरण। भाव का यह नामाकरण इसको फिर से पुराने प्रतिरूप में स्थापित कर देता है। अगर आप इसको नाम नहीं देंगे, जिसका अर्थ है आप इससे अपना तादात्मय स्थापित नहीं करते, तब यह भाव नया है, और यह अपने आप ही अदृश्य हो जाता है। इसको नाम देना इसे मजबूत बनाना है, तथा इसको निरन्तरता देना है। और यही विचार की समग्र प्रक्रिया है।

प्रश्नकर्ता :—मैं एक कोने में धकेला जा रहा हूँ जहाँ से जो मैं वास्तव में हूँ वह देखता हूँ और यह भी देखता हूँ कि मैं कितना नगण्य हूँ। यहाँ से अब आगे क्या है?

कृष्णमूर्ति :—"जो मैं हूँ" से कोई भी गति "जो मैं हूँ" को ही मजबूत करती है। परिवर्तन कोई गति नहीं है। परिवर्तन ही परिवर्तन का निषेध है। केवल अब मैं यह प्रश्न पूछ सकता हूँ : क्या कोई परिवर्तन है भी? यह प्रश्न केवल तभी पूछा जा सकता है जब विचार की सब चालों का अन्त हो गया है। अपरिवर्तन के सौन्दर्य के लिए विचार का निषेध होना चाहिए। "जो है" से अलग विचार की जो गति है उसके पूर्ण निषेध में ही 'जो है' का अन्त है।

5

सम्बन्ध

प्रश्नकर्त्ता :—बहुत दूर से मैं आप से मिलने आया हूँ। हालाँकि मैं शादीशुदा हूँ और मेरे बच्चे भी हैं, पर मैं इनसे दूर रहा हूँ, भिक्षुकों की भाँति भटकता हुआ, मनन करता हुआ। सम्बन्ध की इस पेंचीदा समस्या से मैं बहुत उलझा हुआ हूँ। जब मैं किसी गाँव में जाता हूँ और वो लोग मुझे भोजन देते हैं, मैं देनेवाले से वैसे ही सम्बन्धित हूँ जैसे अपनी बीबी व बच्चों से। किसी अन्य गाँव में जब कोई मुझे कपड़े देता है तो जिस फैक्टरी ने वह कपड़ा बनाया, उससे मैं सम्बन्धित हूँ। जिस धरती पर मैं चलता हूँ, जिस वृक्ष के नीचे मैं शरण लेता हूँ, यहाँ तक कि सभी कुछ से मैं सम्बन्धित हूँ। पर फिर भी मैं अकेला हूँ, अलग-थलग हूँ। अपनी पत्नी के साथ काम-भोग के दौरान भी मैं अपने को उससे अलग पाता हूँ—यह एक अलगाव की क्रिया है। जब मैं मन्दिर जाता हूँ, वहाँ का पुजारी भी पूजित वस्तु से सम्बन्धित हो रहा होता है : यानि कि फिर से अलगाव। जैसा कि मैं देखता हूँ कि सभी सम्बन्धों

में अलगाव, द्वैतता है, फिर भी इसके पीछे या आर-पार, या इसके चारों तरफ एक विशिष्ट एकत्व का भी भाव है। जब मैं किसी भिखारी को देखता हूँ तो मुझे ठेस पहुँचती है, क्योंकि मैं उस जैसा ही हूँ और जैसे वह अकेला, निराश, बीमार एवं भूखा महसूस करता है, मैं भी वैसा ही महसूस करता हूँ। उसके अर्थहीन अस्तित्व का मुझे दुःख होता है। तब भी मैं अपने को उसके साथ महसूस करता हूँ। कोई धनी व्यक्ति बड़ी सी मोटर कार में मेरे पास आता है और मुझे लिफ्ट देता है। उसकी संगति में मुझे तकलीफ होती है, पर उसी वक्त उसके लिए भाव महसूस करता हूँ तथा इससे सम्बन्धित भी हूँ। इस अजीब से विषय-सम्बन्ध पर मैंने मनन किया है। इस गहरी वादी को यहाँ से देखते हुए तथा इस सुन्दर सुबह में, इस प्रश्न पर क्या हम इकट्ठे बात-चीत कर सकते हैं?

कृष्णमूर्तिः—क्या इस पृथक्ता के कारण ही सभी सम्बन्ध हैं? जब तक कोई अलगाव या विभाजन है तब तक क्या कोई सम्बन्ध हो सकता है? क्या कोई सम्बन्ध हो सकता है जब तक हमारा दूसरे से कोई सम्पर्क नहीं है—ना केवल शारीरिक स्तर पर बल्कि हमारे अस्तित्व के सभी स्तरों पर? कोई किसी का हाथ थाम सकता है फिर भी वह मीलों दूर अपने ही विचारों व समस्याओं में लिपटा हुआ हो सकता है। आप समूह में हो सकते हैं फिर भी नितान्त अकेले। फिर आप पूछते हैं: वृक्ष से, फूल, मानव, आकाश और मनोहर सूर्यास्त से क्या किसी प्रकार का सम्बन्ध हो सकता है यदि मानस स्वयं को अपनी क्रियाओं में पृथक् कर रहा है? जब मानस स्वयं को पृथक् नहीं कर रहा है तब भी क्या किसी वस्तु से सम्पर्क हो सकता है?

प्रश्नकर्त्ता :—प्रत्येक वस्तु व व्यक्ति का अपना ही अस्तित्व है। हर वस्तु व हर व्यक्ति अपनी ही हस्ती में छिपा हुआ है। दूसरे प्राणी के इस घेरे को क्या मैं कभी भेद सकता हूँ। मैं चाहे किसी को कितना भी प्यार क्यों न करूँ, उसका अस्तित्व मुझसे अलग है। मानसिक या शारीरिक रूप से शायद उसको बाहर से तो स्पर्श कर सकता हूँ, पर उसका अस्तित्व उसका है और मेरा हमेशा उससे बाहर की तरफ है। इसी तरह वह भी मुझ तक नहीं पहुँच सकता। क्या हमको हमेशा दो अलग इकाइयों की तरह रहना है? प्रत्येक को अपनी ही दुनियाँ में, अपनी ही सीमाओं में, अपनी ही चेतना के पिंजरे में।

कृष्णमूर्ति :—प्रत्येक अपने खोल में रहता है, आप अपने में, वह भी अपने में। क्या कभी कोई सम्भावना है इस खोल के भेदन की। क्या यह कोष्ठ, खोल, परदा, आवरण—ये शब्द मात्र हैं ? आपका सरोकार अपने आप से, उसका अपने आप से, आपकी इच्छाएं उसकी इच्छाओं के विपरीत, क्या इस तरह इसका गठन होता है ? क्या यह केटसूल अतीत है ? यही सब कुछ है। क्या नहीं है ? यह कोई एक वस्तु नहीं है, बल्कि एक पूरा बण्डल है जिसे मानस ढोता है। आप के पास अपना बोझ है, दूसरे के पास उसका है। क्या यह बोझ कभी गिराया जा सकता है, ताकि मानस का मानस से, हृदय का हृदय से, परिचय हो सके ? वास्तव में प्रश्न यही है ना ?

प्रश्नकर्त्ता :—अगर यह बोझ गिरा भी दिया जाए—अगर यह सम्भव है—तब भी वह अपने विचारों सहित त्वचा में रहता है और मैं अपने विचारों सहित अपनी में। कभी तो यह दरार संकीर्ण होती है तो कभी अधिक चौड़ी, पर हम हमेशा दो अलग द्वीप रहते हैं। यह दरार सबसे ज्यादा चौड़ी तब नजर आती है जब हम इसका बहुत ख्याल रखते हैं और इस पर पुल बांधने की कोशिश करते हैं।

कृष्णमूर्ति :—आप अपना तादात्म्य उस देहाती से या उस दीप्त बोगेनवेलिया से स्थापित कर सकते हैं—यह एकता का बहाना करने की मानसिक चाल है। किसी भी वस्तु से तादात्म्य स्थापित करना सबसे बड़ी ढोंगी अवस्थाओं में से एक है। स्वयं का किसी राष्ट्र या किसी विश्वास के साथ तादात्म्य स्थापित करना, लेकिन फिर भी अकेले रहना, एकाकीपन को धोखा देने की एक प्रिय चाल है। या फिर ऐसा भी हो सकता है कि आप किसी विश्वास के साथ इतना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि आप वह विश्वास बन जाते हैं। यह एक विक्षिप्त अवस्था है। व्यक्ति किसी धारणा या वस्तु से तादात्म्य स्थापित करने की इस इच्छा को एक तरफ रख देता है। इस तरह का कोई तालमेल, एकता या प्रेम नहीं है। तो हमारा अब अलग प्रश्न है : क्या आप इस आवरण को चीर सकते हैं ताकि कोई आवरण ही न रहे ? केवल तभी पूर्ण सम्पर्क की सम्भावना है। कैसे कोई इस आवरण को चीर सकता है ? "कैसे" शब्द का अर्थ कोई पद्धति नहीं है, पर छानबीन है, जो शायद मार्ग प्रशस्त करे।

प्रश्नकर्त्ता :—ठीक है। किसी भी सम्पर्क को सम्बन्ध का नाम नहीं दिया जा सकता, यद्यपि हम ऐसा कहते अवश्य हैं।

कृष्णमूर्ति :—क्या हम यह आवरण धीरे-धीरे चीरते हैं या एकदम से काट डालते हैं ? अगर हम इसे धीरे-धीरे चीरते हैं, जैसा कि कुछ विश्लेषक करने का दावा करते हैं, तो यह काम कभी पूरा नहीं हो सकता, आप इस अलगाव को समय के माध्यम से नहीं तोड़ सकते।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैं दूसरे के आवरण में प्रवेश कर सकता हूँ ? क्या उसका आवरण ही उसका अस्तित्व नहीं है—उसके दिल की धड़कनें, उसका रुधिर, उसके मनोभाव, उसकी स्मृतियाँ ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आप आवरण स्वयं नहीं है ?

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ।

कृष्णमूर्ति :—दूसरे के आवरण को चीरने की, या आपके अपने से बाहर विस्तार की गति, यह आपके अपने ही आवरण की अभिपुष्टि व क्रिया है : आप ही आवरण हैं। अतः आप आवरण के द्रष्टा भी हैं और आवरण खुद भी हैं। ऐसी स्थिति में आप प्रेक्षक और प्रेक्षित दोनों हैं, ऐसा ही दूसरा व्यक्ति है, वैसे ही हम बने रहते हैं। आप उस तक पहुँचने की कोशिश करते हैं और वह आप तक पहुँचने की। क्या यह सम्भव है ? आप समुद्र से घिरा हुआ एक द्वीप हैं और वह भी समुद्र से घिरा हुआ एक द्वीप है। आप यह देखते हैं कि आप द्वीप और समुद्र दोनों हैं; इन दोनों में कोई विभाजन नहीं है; आप समुद्र सहित समूची पृथ्वी हैं। अतः द्वीप व समुद्र के रूप में कोई विभाजन नहीं है। दूसरा व्यक्ति यह नहीं देखता। वह समुद्र से घिरा हुआ द्वीप है; वह आप तक पहुँचने की कोशिश करता है, या अगर आप मूर्ख हैं तो आप उस तक पहुँचने की कोशिश करते हैं। क्या यह सम्भव है ? एक व्यक्ति जो मुक्त है और दूसरा व्यक्ति जो बँधा हुआ है, के बीच कैसे सम्पर्क हो सकता है ? चूँकि आप ही प्रेक्षक और प्रेक्षित हैं, अतः आप ही समुद्र की व पृथ्वी की समग्र गति हैं। परन्तु दूसरा व्यक्ति जिसे इसकी समझ नहीं है वह अब भी पानी से घिरा हुआ द्वीप है। वह आप तक पहुँचने का प्रयत्न करता है और सर्वदा असफल होता है, क्योंकि वह अपने द्वीपीकरण को बनाये रखता है। सम्पर्क तभी हो सकता

है जब वह इसका त्याग करे और आप की तरह आकाश, पृथ्वी व सागर की गति के प्रति मुक्त हो। जो यह देखता है कि बाधा वह स्वयं है, उसके लिए कोई बाधा नहीं है। अतः वह स्वयं में अलग है ही नहीं। दूसरे व्यक्ति ने यह नहीं देखा है कि बाधा वह स्वयं है, इसीलिए वह अपने अलगाव में विश्वास दृढ़ रखता है। यह व्यक्ति कैसे दूसरे तक पहुँच सकता है? यह सम्भव नहीं है।

× × ×

प्रश्नकर्ता :—जहाँ हमने कल छोड़ा था, मैं वहीं से दुबारा प्रारम्भ करना चाहूँगा। आप कह रहे थे कि मानस अपने चारों तरफ के आवरण का निर्माता है और यह आवरण मानस है। मैं सचमुच इसे नहीं समझता। बौद्धिक रूप से शायद मैं मान सकता हूँ, पर प्रत्यक्षज्ञान का तत्त्व मुझसे बच निकलता है। बहुत चाहता हूँ कि मैं इसे समझूँ—शाब्दिक रूप से नहीं वरन् वास्तव में महसूस करना चाहता हूँ—ताकि मेरे जीवन में कोई द्वन्द्व न हो।

कृष्णमूर्ति :—मानस जिसे आवरण कहता है और जिसे उसने बनाया है, तथा स्वयं मानस के बीच अन्तराल है। आदर्श और क्रिया के बीच अन्तराल है। प्रेक्षक और प्रेक्षित के मध्य, या जो वस्तुएँ वह देखता है के मध्य के अन्तराल के विभिन्न खण्डों में ही सारा द्वन्द्व, संघर्ष और जीवन की सभी समस्याएँ हैं। मेरे चारों तरफ के आवरण और उसके चारों तरफ के आवरण में विच्छेद है। उसी अन्तराल में हमारा समूचा अस्तित्व, सम्बन्ध और संग्राम है।

प्रश्नकर्ता :—जब आप प्रेक्षक और प्रेक्षित के बीच के विभाजन के बारे में बात करते हैं तो क्या आपका तात्पर्य हमारे सोच-विचार के ढंग और प्रतिदिन के व्यवहार के बीच अन्तराल के खण्डों से है?

कृष्णमूर्ति :—यह अन्तराल क्या है? आपके और आपके आवरण के मध्य, उसके व उसके आवरण के मध्य अन्तराल है, और दोनों आवरणों के मध्य भी अन्तराल है। प्रेक्षक को यह सभी अन्तराल दिखाई पड़ते हैं। यह अन्तराल किस चीज द्वारा बने हैं? यह कैसे अस्तित्व में आते हैं? इन विभाजित अन्तरालों का गुण व स्वभाव क्या है? अगर हम इन खण्डित अन्तरालों को हटा सकें, तब क्या होगा?

प्रश्नकर्त्ता :—अस्तित्व के सभी स्तरों पर सच्चा सम्पर्क होगा।

कृष्णमूर्ति :—बस इतना ही ?

प्रश्नकर्त्ता :—द्वन्द्व भी नहीं होगा, क्योंकि अन्तरालों की आड़ में सम्बन्ध ही द्वन्द्व है।

कृष्णमूर्ति :—बस इतना ही ? जब यह अन्तराल सचमुच ही अदृश्य हो जाते हैं—शाब्दिक या बौद्धिक रूप से नहीं—जब सचमुच ही अदृश्य हो जाते हैं—तब आप में और उसमें, आप में और अन्य में, एकता है और सम्पूर्ण सामंजस्य है। इस सामंजस्य में आप और वह समाप्त हो जाते हैं, बस केवल वहाँ असीम अन्तराल रहता है जो कभी तोड़ा नहीं जा सकता। मानस का छोटा सा ढाँचा अन्त को प्राप्त होता है क्योंकि मानस ही विखण्डन है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं इसको सच में नहीं समझ सकता, हालाँकि मेरे अन्दर यह गहरी भावना है कि यह ऐसा ही है। मैं समझ रहा हूँ कि जब प्रेम होता है तब वास्तव में यही होता है, पर मैं इस प्रेम को नहीं जानता। यह हमेशा मेरे साथ नहीं होता। यह मेरे हृदय में नहीं है। मैं तो जैसे मात्र धुँधले शीशे में से देख रहा हूँ। ईमानदारी से इसे मैं अपने पूरे अस्तित्व सहित पूर्णरूपेण नहीं समझ पा रहा हूँ। जैसा आपने सुझाव दिया, क्या हम यहाँ विचार कर सकते हैं कि यह अन्तराल किस चीज से बना है और यह कैसे अस्तित्व में आता हैं ?

कृष्णमूर्ति :—हमें यहाँ आश्वस्त हो जाना चाहिए कि जब हम अन्तराल शब्द का प्रयोग करते हैं तो हम दोनों उससे एक ही बात समझते हैं। मनुष्यों और वस्तुओं में भौतिक अन्तराल है, इनमें मनोवैज्ञानिक अन्तराल भी हैं। धारणा और यथार्थ में भी अन्तराल है। यह सभी भौतिक और मनोवैज्ञानिक अन्तराल न्यूनाधिक परिसीमित और परिभाषित हैं। इस समय हम भौतिक अन्तराल की बात नहीं कर रहे हैं। मनुष्यों के बीच तथा मानव के खुद के अन्दर का अन्तराल, उसके विचारों और क्रियाओं के बीच के मनोवैज्ञानिक अन्तराल की बात कर रहे हैं। यह अन्तराल कैसे घटित होता है ? क्या यह काल्पनिक है, भ्रामक है या वास्तविक है ? इसे आप महसूस करें, इसके प्रति आप सजग हों, आप इससे आश्वस्त हों कि आपके पास इसकी कोई मानसिक प्रतिमा नहीं है, और यह भी ध्यान रखें कि व्याख्या कभी वस्तु नहीं है। आपको पूर्ण

रूप से आश्वस्त होना चाहिये कि हम जो बातें कर रहे हैं वह आप जानते हैं। आप सजग रहें कि यह परिसीमित अन्तराल और यह विभाजन आप में ही विद्यमान है : अगर आप यह नहीं समझते तो इससे आगे मत बढ़िए। अब प्रश्न है कि अन्तराल कैसे पैदा होता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—हम वस्तुओं में भौतिक अन्तराल देखते हैं.........

कृष्णमूर्ति :—किसी भी चीज का स्पष्टीकरण न करें, मात्र इसको महसूस करें। हम यह पूछ रहे हैं कि यह अन्तराल कैसे अस्तित्व में आता है। स्पष्टीकरण या कारण न दें, केवल इस अन्तराल के साथ रहें और इसको महसूस करें। तब कारण एवं व्याख्या का कोई अर्थ नहीं होगा, कोई मूल्य नहीं होगा। विचार जो "अहम" है, शब्द जो पूर्ण विभाजन है, इन्हीं के कारण यह अन्तराल अस्तित्व में आता है। विचार स्वयं ही यह दूरी और विभाजन है। विचार अपने आप को सदैव खण्डों में तोड़ रहा है और विभाजन का सृजन कर रहा है। विचार अन्तराल में जो प्रेक्षण करता है उसको खण्डों में काट देता है—तुम और मैं, आपका और मेरा, मैं और मेरे विचार, इत्यादि, इत्यादि। जिसका विचार ने सृजन किया और जो वह देखता है के मध्य का यह अन्तराल यथार्थ बन गया है, यही अन्तराल है जो विभाजित करता है। एकता की उम्मीद रखते हुए विचार इस विभाजन पर पुल बाँधने की कोशिश करता है और इस तरह हर वक्त अपने ही साथ एक चालबाजी करता है और अपने आपको धोखा देता है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप का यह कहना विचार के बारे में एक प्राचीन कथन की याद दिलाता है : चोर को पकड़ने के लिए चोर ही सिपाही का वेश धारण करता है।

कृष्णमूर्ति :—महाशय, यह चाहे कितना भी प्राचीन क्यों ना हो, उसे उद्धृत करने का कष्ट ना करें। जो हकीकत में हो रहा है उसके बारे में हम सोच विचार कर रहे हैं। विचार के कार्यकलाप और स्वभाव को देखने से ही विचार शान्त हो जाता है। विचार के शान्त होने से—ना कि शान्त बनाए जाने से—क्या वहाँ कोई अन्तराल है ?

प्रश्नकर्त्ता :—अब यह विचार ही है जो इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए दौड़ लगाता है।

कृष्णमूर्ति :—तथ्यतः। इसलिए हम यह प्रश्न नहीं पूछते। बिना खण्डन के मानस अब पूर्णरूपेण सामंजस्य में है। लघु अन्तराल अब समाप्त हो गया है, बस केवल अन्तराल है। मानस जब पूर्णतः निरुद्वेग है—ना कि बनाया गया है—तब वहाँ अन्तराल की विशालता है और शान्ति है।

प्रश्नकर्त्ता :—तो अब मैं यह समझने लगा हूँ कि मेरा अन्य से सम्बन्ध विचार और विचार के मध्य है; जो कुछ भी मैं जवाब देता हूँ, वह विचार का ही शोरगुल है, और इसको अनुभूति होते ही मैं शान्त हो जाता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—यह शान्त ही बहुत बड़ा आशीर्वाद है।

6

द्वन्द्व

प्रश्नकर्त्ता :—मेरे आसपास जो कुछ भी है उसके प्रति अपने आपको मैं काफी द्वन्द्व में पाता हूँ। जो कुछ मेरे भीतर है उसमें भी द्वन्द्व है। लोगों ने दैविक व्यवस्था के बारे में बात की है; प्रकृति भी सुव्यवस्थित है; ऐसा लगता है कि मनुष्य ही ऐसा जानवर है जिसने इस व्यवस्था का उलंघन किया है और इस तरह अपने व अन्य व्यक्तियों के लिए व्यथा उत्पन्न की हैं। जब मैं सुबह उठता हूँ, अपनी खिड़की से पक्षियों को झगड़ते देखता हूँ, पर वह जल्द ही अलग हो जाते हैं और उड़ जाते हैं। जब कि मैं अपने अन्दर हमेशा अपने आप से और दूसरों से यह युद्ध जारी रखता हूँ; और इससे कोई छुटकारा नहीं हैं। अच्छा होता अगर मैं अपने आपसे सुलह कर पाऊँ। मैं अपने आपको और अपने चारों तरफ की वस्तुओं को पूर्ण तालमेल में देखना चाहता हूँ। जब मैं इस खिड़की से बाहर शान्त समुद्र की ओर तथा पानी पर फैले प्रकाश को देखता हूँ तो अपने अन्दर बहुत गहरी यह भावना उठती है कि अपने आप से

बिना संघर्ष किये और दुनिया से इस अन्तहीन संघर्ष किये बिना भी अवश्य ही जीने का कोई ढंग होगा। क्या कहीं भी कोई सामंजस्य है ? या केवल अनन्त अव्यवस्था ही है ? अगर कोई सामंजस्य है, तो वह किस स्तर पर हैं ? या यह किसी पहाड़ की चोटी पर ही मौजूद है, जिसको धधकती हुई वादियाँ कभी नहीं जान सकती ?

कृष्णमूर्ति :—क्या कोई अपने से दूसरे तक जा सकता है ? क्या कोई "जो है" को "जो नहीं है" में परिवर्तित कर सकता है ? क्या कोई असामंजस्य को सामंजस्य में रूपान्तरित कर सकता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—क्या द्वन्द्व तब आवश्यक है ? आखिर कर, यह भी तो हो सकता है कि वस्तुओं की यह स्वाभाविक दशा ही हो !

कृष्णमूर्ति :—अगर किसी ने यह मान लिया तो समाज जिसका प्रतीक है वह सब भी मानना होगा—जैसे, युद्ध, महत्त्वाकांक्षा, प्रतियोगिता, आक्रामक जीने का ढंग, तथाकथित पवित्र स्थलों के अन्दर-बाहर मनुष्य की पाशविक हिंसा। क्या यह स्वाभाविक है ? क्या यह एकता उत्पन्न करेगा ? क्या यह बेहतर नहीं होगा कि इन दो तथ्यों पर विचार करें—अपने सभी पेंचीदा संघर्षों सहित द्वन्द्व का तथ्य, तथा व्यवस्था, सामंजस्य, शान्ति, सौन्दर्य, प्रेम की माँग करते हुए मानस का तथ्य ?

प्रश्नकर्त्ता :—सामंजस्य के बारे में मैं कुछ नहीं जानता। मैं इसे स्वर्ग, ऋतुओं, व ब्रह्माण्ड की गणितीय व्यवस्था में देखता हूँ। पर यह मेरे मानस व हृदय में व्यवस्था नहीं लाता; गणित की यह परम व्यवस्था **मेरी** व्यवस्था नहीं है। मेरी कोई व्यवस्था नहीं है, मैं गहन अव्यवस्था में हूँ। मैं जानता हूँ कि राजनीतिक यूटोपियाज़ व धार्मिक स्वर्गों की तथाकथित परिपूर्णता को प्राप्त करने के लिए क्रमिक विकास के विभिन्न सिद्धान्त हैं, लेकिन यह मुझे वहीं छोड़ देते हैं जहाँ मैं वास्तव में हूँ। अब से दस हजार वर्ष में दुनिया शायद परिपूर्ण हो जाए, पर इस बीच तो मेरे लिए नरक हैं।

कृष्णमूर्ति :—हम इस समाज में और अपने आप में अव्यवस्था देखते हैं। दोनों ही बहुत जटिल हैं। इनका वास्तव में ही कोई उत्तर नहीं हैं। हम इसकी बहुत ध्यान से जाँच पड़ताल कर सकते हैं, बहुत निकटता से विश्लेषण कर

सकते हैं, स्वयं में और समाज में अव्यवस्था के कारणों को ढूंढ़ सकते हैं, प्रकाश में उनको अनावृत्त कर सकते हैं, और यह भी विश्वास कर सकते हैं कि कोई उनसे मानस को मुक्त करायेगा। बुद्धिमत्ता से या बुद्धिहीनता से, अधिकतर लोग केवल विश्लेषणात्मक प्रक्रिया ही कर रहे हैं; पर यह किसी को भी अधिक दूर तक नहीं ले जाती है। मनुष्य ने स्वयं का हजारों वर्ष से विश्लेषण किया है और कोई निष्कर्ष नहीं बल्कि केवल साहित्य ही उत्पादित किया है। बहुत से साधुओं ने अपने आपको अवधारणा व आदर्शवाद की जेल में गतिहीन बना लिया है, और वह भी द्वन्द्व में हैं। हमारे द्वन्द्व का कारण इच्छाओं की यह निरन्तर द्विविधता है, तथा डाह, लालच, महत्त्वाकांक्षा, आक्रमण, भय और बाकी अन्य चीजों का सृजन करता हुआ विपरीतताओं का अन्तहीन गलियारा भी हैं। अगर इस समस्या के लिए कोई बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण न हो तो मुझे आश्चर्य होगा। इस संघर्ष का स्वीकरण और इससे बाहर आने का हमारा प्रयत्न परम्परा बन गई है। पूरा दृष्टिकोण ही परम्परावादी हैं। इस परम्परावादी दृष्टिकोण में ही मानस चलायमान है, पर, जैसे हम देखते हैं, मानस का यह परम्परावादी दृष्टिकोण अधिक अव्यवस्था का सर्जन करता है। तो समस्या यह नहीं है कि अव्यवस्था का कैसे अन्त हो, पर क्या मानस परम्परा से मुक्त होकर इसको देख सकता है ? और तब शायद कोई समस्या ही ना हो।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं आप को बिलकुल नहीं समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—अव्यवस्था का यही तथ्य है। इसके बारे में कोई शक नहीं है: यह एक वास्तविक तथ्य है। इस तथ्य का विश्लेषण करना, इसके कारण को खोजना व उसको जीतने की कोशिश या फिर इसके विपरीत का आविष्कार कर उसकी ओर संघर्षरत रहना, यह एक परम्परावादी दृष्टिकोण हैं। अनुशासन, कठोर नियम, नियन्त्रण, दमन, उदात्तीकरण सहित यह परम्परावादी दृष्टिकोण हैं। मनुष्य ने यह हजारों-हजारों वर्षों से किया है पर यह उसे किसी भी ओर नहीं ले जा सका है। क्या हम इस दृष्टिकोण का पूर्णतयः परित्याग कर सकते हैं और समस्या तो बिलकुल अलग ढंग से देख सकते हैं, अर्थात्, इससे परे जाने की, इसके निराकरण की, इस पर विजय पाने की या इससे पलायन करने की कोशिश ना करते हुए ? क्या मानस ऐसा कर सकता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—शायद..............

कृष्णमूर्ति :—इतनी जल्दी से जवाब न दें। जो मैं आप से पूछ रहा हूँ वह बहुत ही विस्मयकारी चीज है। आदिकाल के प्रारम्भ से ही मनुष्य ने अपनी समस्याओं से निपटने की कोशिश की है, समस्याओं से या तो परे जाकर, उनका निराकरण करके, उन पर विजय पाकर या उनसे पलायन होकर। मात्र शाब्दिक सहमति से आप इस सबको इतनी आसानी से अलग कर सकते हैं, कृपया यह ना सोचें। इसी से ही प्रत्येक के मानस का ढाँचा बनता है। इस सबको अशाब्दिक रूप में समझते हुए, क्या मानस स्वयं को परम्परा से मुक्त कर सकता है ? द्वन्द्व से निपटने का पारम्परिक तरीका इसका समाधान नहीं करता बल्कि द्वन्द्व को और भी बढ़ा देता है। हिंसात्मक होते हुए—जो कि द्वन्द्व है, संघर्ष है—अहिंसा-वादी होने की हम कोशिश करते हैं जो द्वन्द्व को और अधिक बढ़ा देता है। सभी सामाजिक नैतिकता तथा धार्मिक नुस्खे यही हैं। क्या हम साथ-साथ आगे बढ़ रहे हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ।

कृष्णमूर्ति :—हम कहाँ तक पहुँच गए हैं, क्या आप यह समझ रहे हैं ? समझ द्वारा इन सब पारम्परिक दृष्टिकोणों का परित्याग करने के पश्चात् मानस की वास्तविक अवस्था क्या है ? द्वन्द्व के बजाय मानस की अवस्था कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्नकर्त्ता :—सचमुच मैं नहीं जानता।

कृष्णमूर्ति :—आप क्यों नहीं जानते ? अगर आप ने वास्तव में ही मानस की अवस्था के परम्परावादी दृष्टिकोण को छोड़ दिया है तब आप सजग क्यों नहीं हैं ? आप क्यों नहीं जानते ? या तो आप ने इसका परित्याग कर दिया है या नहीं किया है। अगर आपने कर दिया है तब आप जानेंगे। अगर आपने कर दिया है तो समस्या को समझने के लिए आपका मानस निर्दोष हैं व अबोध हैं। आप समस्या पर ऐसे दृष्टिपात कर सकते हैं जैसे उसे पहली दफा देख रहे हों। अगर आप ऐसा करते हैं तो क्या द्वन्द्व की कोई समस्या है ? क्योंकि समस्या को आप पुरानी आँखों से देखते हैं तो इसे ना केवल मजबूत बनाते हैं बल्कि यह घिसे-पिटे रास्ते पर ही चलती रहती हैं। जो महत्त्वपूर्ण है वह यह है कि आप समस्या को देखते कैसे हैं—आप इसको नई

आँखों से देखते हैं या पुरानी आँखों से। नई आँखें समस्या की प्रतिबद्ध अनु-क्रियाओं से मुक्त हैं। यहाँ तक कि अगर आप समस्या को पहचान कर नाम देते हैं तो यह भी पारम्परिक ढंग हैं। औचित्य, निन्दा या समस्या का सुख-दुःख की भाषा में अनुवाद, यह सभी समस्या के निवारण के लिए कुछ करने का अभ्यासगत परम्परावादी दृष्टिकोण हैं। समस्या के सम्बन्ध में इसे ही सामान्यतः रचनात्मक क्रिया कहा जाता है। परन्तु इसे अप्रभावी व बुद्धिहीन समझकर मानस जब इनकी उपेक्षा कर इन्हें एक तरफ रख देता है, तब वह अत्यन्त संवेदनशील, अत्यन्त व्यवस्थित व मुक्त होता है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप मुझसे बहुत अधिक माँग कर रहे हैं; मैं यह नहीं कर सकता। मैं असमर्थ हूँ। आप मुझे महा मानव बनने के लिए कह रहे हैं।

कृष्णमूर्ति :—जब आप यह कहते हैं कि आपको महामानव बनना है, तब आप अपने लिए कठिनाइयाँ पैदा कर रहे हैं, स्वयं को अवरोधित कर रहे हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है। आप वस्तुओं पर उन आँखों से देखते रहते हैं जो हस्तक्षेप करना चाहती हैं, जो कुछ वह देखती है उनका कुछ करना चाहती हैं। कुछ भी करना समाप्त कर दीजिए, क्योंकि आप जो कुछ भी करेंगे वह परम्परावादी दृष्टिकोण ही होगा। बस यही सब कुछ है। सरल और सहज रहिए। अतीत से पूर्णतः घुले हुए मानस व हृदय से प्रत्यक्षज्ञान करना—प्रत्यक्षज्ञान का यही चमत्कार है। निषेध ही सबसे अधिक रचनात्मक क्रिया है।

7

धार्मिक जीवन

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह जानना चाहूँगा कि धार्मिक जीवन क्या है ? बहुत महीने मैं मठों में रहा, ध्यान लगाया, अनुशासित जीवन व्यतीत किया और काफी पढ़ा भी। मैं तरह-तरह के मन्दिरों, गिरिजाघरों और मस्जिदों में गया हूँ। मैंने बहुत ही साधारण, अहानिकर जीवन जीने की चेष्टा की है—मनुष्यों या पशुओं को चोट ना पहुँचाने की कोशिश करते हुए। निश्चित रूप से यही सब कुछ धार्मिक जीवन नहीं है ? मैंने योग का अभ्यास किया है, ज़ेन दर्शन पढ़ा है और बहुत से धार्मिक अनुशासनों का पालन किया है। मैं शाकाहारी हूँ और हमेशा से रहा हूँ। जैसा कि आप देख रहे हैं, अब मैं बूढ़ा हो रहा हूँ। दुनिया के विभिन्न हिस्सों में कुछ साधुओं के साथ रहा हूँ, पर किसी तरह मुझे यह लगता है कि यह तो यथार्थ का परिसर मात्र है। धार्मिक जीवन का आपके लिए क्या अर्थ है ? अगर हम आज इस पर चर्चा कर पाएँ तो खुशी होगी।

कृष्णमूर्ति :—एक दिन एक संन्यासी मुझसे मिलने आया; वह दुःखी था। उसने कहा कि उसने ब्रह्मचर्य को प्रतिज्ञा की थी, और भिक्षुक बनने के लिए उसने दुनिया छोड़ दी। वह एक गाँव से दूसरे गाँव में भटकता रहा पर उसकी यौन इच्छाएं इतनी उद्धत थी कि एक सुबह उसने जननेन्द्रियों को शल्य-चिकित्सा द्वारा हटवाने का निश्चय कर लिया। कुछ महीनों के लिए तो वह निरन्तर पीड़ा में था, पर किसी तरह वह भला-चंगा हो गया। बहुत वर्षों बाद उसने पूरी तरह महसूस किया कि उसने यह क्या कर डाला। और इसलिए वह मुझसे मिलने आया था, इस छोटे से कमरे में उसने मुझसे पूछा, अपने आपको विकलांग करने के बाद फिर से सामान्य बनने के लिए शारीरिक रूप से तो नहीं, पर आन्तरिक रूप से वह क्या कर सकता है। उसने ऐसा इसलिए किया क्योंकि यौनाचार धार्मिक-जीवन के प्रतिकूल समझा जाता था। यह ऐहिक, भोग-विलास की दुनिया से सम्बन्धित माना जाता था, जिससे सचमुच के सन्यासी को हर कीमत पर दूर रहना चाहिए। उसने कहा "अब मैं यहाँ हूँ, अपने पुरुषत्व से वंचित मैं ध्वस्त महसूस करता हूँ। यौन इच्छाओं को नियन्त्रण में रखने के लिए मैंने इतना जबरदस्त संघर्ष किया और अन्त में यह भयानक घटना घटी। अब मैं करूं तो क्या करूं ? मैं जानता हूँ कि जो मैंने किया वह गलत था। मेरी ऊर्जा लगभग समाप्त ही गई और लगता है कि मैं अपना जीवन अन्धेरे में समाप्त कर रहा हूँ।" उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और कुछ समय के लिए हम चुपचाप बैठे रहे।

क्या यही धार्मिक जीवन है ? क्या सुख या सौन्दर्य का निषेध धार्मिक जीवन व्यतीत करने का एक तरीका है ? आसमान, पहाड़ियों व मानव आकृति के सौन्दर्य का निषेध करना, क्या यह धार्मिक जीवन की ओर हमें ले जाता है ? पर इसी में अधिकतर साधुओं व मठवासियों का विश्वास है। इसी विश्वास से वह अपने आपको यातना देते हैं ? क्या उत्पीड़ित, विरूपित, विकृत मानस कभी पता लगा सकता है कि धार्मिक जीवन क्या है ? फिर भी सभी धर्म यही दावा करते हैं कि भगवान या जिस नाम से भी आप इसे पुकारे, तक पहुचने का एक मात्र रास्ता यातना एवं विकृति द्वारा ही है। आध्यात्मिक या धार्मिक जीवन तथा जिसे वे सासांरिक जीवन कहते हैं के बीच वे सभी भेद करते हैं।

एक मनुष्य, जो केवल भोग विलास के लिए जीता है, कभी-कभार दुःख व धर्म-परायणता की दमक के साथ, जिसका जीवन मनबहलाव व मनोरंजन को

समर्पित है, निःसन्देह एक सासांरिक व्यक्ति है, यद्यपि वह बहुत चालाक और विद्वान् भी हो सकता है और अपने जीवन को दूसरे व्यक्तियों के या अपने ही विचारों से भर सकता है। एक व्यक्ति जिसके पास योग्यता है और उसको वह समाज कल्याण के लिए लगाता भी है और योग्यता की इस पूर्ति में प्रसिद्धि प्राप्त करता है, ऐसा व्यक्ति भी निश्चय ही सासांरिक है। गिरिजाघरों, मंदिरों, मस्जिदों में जाना, प्रार्थना करना, पूर्वाग्रहों व कट्टरता से ओत-प्रोत, इस सबकी पाशविकता के प्रति नितान्त अचेत होना, यह भी तो सासांरिकता ही है। देशभक्त, राष्ट्रवादी और आदर्शवादी होना भी सासांरिकता है। वह व्यक्ति जो अपने आपको मठ में बन्द कर लेता है, निश्चित समय पर हाथ में किताब लिए हुए उठता है, पढ़ता है और प्रार्थना करता है, भी एक सासांरिक व्यक्ति ही है। एक व्यक्ति जो अच्छा काम करने के लिए निकला है, चाहे वह समाज-सुधारक हो या धर्म-प्रचारक, एक नेता के समान ही है जिसका दुनिया से सम्बन्ध है। धार्मिक जीवन और दुनिया के बीच का विभाजन ही सांसारिकता का सार है। मठवासियों, साधुओं व सुधारकों—इन सब लोगों के मानस, उन व्यक्तियों के मानस से, जिनका सरोकार भोग-विलास की वस्तुओं से है—कोई बहुत भिन्न नहीं है।

अतः जीवन को सांसारिक और असांसारिक में विभाजित न करना ही महत्त्वपूर्ण है। सांसारिक और तथाकथित धार्मिक के बीच भेद न करना ही महत्त्वपूर्ण है। भौतिक पदार्थ की दुनिया के बिना, भौतिक दुनिया के बिना, हम यहाँ होंगे ही नहीं। आकाश के सौन्दर्य और उस पहाड़ी पर एक भी वृक्ष के बिना, पास से गुज़रती हुई उस औरत और घोड़े पर सवारी करते हुए उस पुरुष के बिना जीवन सम्भव नहीं होगा। हमारा सरोकार जीवन की पूर्णता से है न कि इसके एक विशिष्ट हिस्से से, जिसको औरों के विरोध में धार्मिक माना जाता है। तब हम यह देखना आरम्भ कर देते हैं कि धार्मिक जीवन समग्र से सम्बद्ध है न कि विशेष से।

प्रश्नकर्ता—आप जो कह रहे हैं, मैं समझ रहा हूँ। हमारा सरोकार जीवन की पूर्णता से है, हम दुनिया को तथाकथित आत्मा से अलग नहीं कर सकते। तो प्रश्न यह है : किस तरीके से हम जीवन की सभी वस्तुओं के प्रति धार्मिकता से कार्य कर सकते हैं ?

कृष्णमूर्ति :—धार्मिकता से कार्य करने से आपका क्या मतलब है ? क्या आप इसका अर्थ जीवन के उस ढंग से नहीं लगायेंगे जिसमें कोई विभाजन नहीं है—सांसारिक और धार्मिक के बीच, जो होना चाहिए और जो नहीं होना चाहिए के बीच, आप और मैं, पसन्द व नापसन्द के बीच ? यह विभाजन ही द्वन्द्व है। द्वन्द्वपूर्ण जीवन धार्मिक जीवन नहीं है। धार्मिक जीवन तभी सम्भव है जब हम बहुत गहराई से द्वन्द्व को समझें। यह समझ ही प्रज्ञा है। यह प्रज्ञा है जो उचित ढंग से काम करती हैं। जिसे अधिकतर लोग प्रज्ञा कहते हैं वह तो मात्र किसी तकनीकी कार्य में दक्षता है या व्यापार में धूर्तता है या राजनीतिक झाँसा-पट्टी है।

प्रश्नकर्त्ता :—तो मेरे प्रश्न का वास्तव में अर्थ यह है कि बिना द्वन्द्व के कैसे जीएँ और सच्ची पुनीतता की वह भावना लाएँ जो मात्र किसी धार्मिक पिंजरे से प्रतिबद्ध भावुक धर्मपरायणता नहीं है—चाहे वह पिंजरा कितना भी पुराना या उपासित क्यों न हो ?

कृष्णमूर्ति :—बिना अधिक द्वन्द्व के गाँव में जीवन बसर करता हुआ या "पादन" पहाड़ी स्थल पर किसी गुफा में स्वप्न देखता हुआ व्यक्ति, निश्चय ही धार्मिक जीवन नहीं जीता, जिसके बारे में हम बात कर रहे हैं। द्वन्द्व का अन्त करना बहुत जटिल है। इस को आवश्यकता है स्वयं प्रेक्षण की, बाह्य और अन्दरूनी सजगता और सूक्ष्मग्राहिता की। द्वन्द्व तभी समाप्त होता है जब अपने आप में विसंगति की समझ हो। अगर ज्ञात, जो अतीत है, से मुक्ति नहीं है तो यह विसंगति सर्वदा रहेगी। अतीत से मुक्ति का अर्थ है वर्तमान में जीना, जो समय का नहीं है बल्कि जिसमें ज्ञात और अतीत से अछूती मुक्ति की केवल गति है।

प्रश्नकर्त्ता :—'अतीत से मुक्ति' से आपका क्या तात्पर्य है ?

कृष्णमूर्ति :—अतीत हमारी सभी संचित स्मृतियाँ है। यह स्मृतियाँ वर्तमान में सक्रिय है तथा हमारी आशाओं व भविष्य के भयों का सर्जन करती हैं। यह आशाएँ व भय मनोवैज्ञानिक भविष्य हैं। इनके बिना कोई भविष्य नहीं हैं। अतः वर्तमान अतीत की क्रिया है, और मानस अतीत की गति है। वर्तमान में क्रिया करता हुआ अतीत ही भविष्य का सर्जन करता है। अतीत

की यह अनुक्रिया अनैच्छिक है, इसे आमन्त्रित या इसका आह्वाण नहीं किया जाता है; इससे पहले की हम इसे जाने, यह हमारे सिर पर बैठ जाती है।

प्रश्नकर्त्ता :—ऐसी अवस्था में हम इस से कैसे मुक्त हो सकते हैं ?

कृष्णमूर्ति :—इस गति के प्रति बिना चुनाव के सजग होना—क्योंकि चुनाव अतीत की गति के सदृश्य ही है—अतीत का सक्रिय रूप में प्रेक्षण करना है। ऐसा प्रेक्षण अतीत की गति नहीं है। विचार की प्रतिमा के बिना प्रेक्षण एक ऐसी क्रिया है जिसमें अतीत का अन्त हो गया है। विचार के बिना वृक्ष को देखना, बिना अतीत की क्रिया है। अतीत की क्रिया का देखना मात्र ही वह क्रिया है जिसमें अतीत नहीं है। जो देखा गया है उसकी बजाए देखने की अवस्था अधिक महत्त्वपूर्ण है। चुनाव-रहित प्रेक्षण में अतीत के प्रति सजग होना न केवल भिन्नता से क्रिया करना है वरन् भिन्न होना है। इस सजगता में स्मृति बिना किसी रूकावट के कुशलता से कार्य करती है। धार्मिक होने का अर्थ है बिना चुनाव सजग होना कि ज्ञात से मुक्ति हो, हालांकि ज्ञात को जहाँ कार्य करना है वहाँ यह सक्रिय रहेगा ही।

प्रश्नकर्त्ता :—जब इसको नहीं करना चाहिए तब भी कभी-कभी ज्ञात या अतीत कार्य करता है। द्वन्द्व पैदा करने के लिए यह क्रिया करता रहता है।

कृष्णमूर्ति :—इसके प्रति सजग होना भी निष्क्रियता की अवस्था में ही होना है—उस अतीत के सम्बन्ध में जो कि लगातार सक्रिय रहता है। अतः ज्ञात से मुक्ति ही असल में धार्मिक जीवन है। इसका अर्थ अतीत को मिटा देना नहीं है बल्कि एक बिलकुल भिन्न आयाम में प्रवेश करना है जहाँ से ज्ञात का प्रेक्षण होता है। यह चुनाव-रहित ढंग से देखने की क्रिया ही प्रेम की क्रिया है। धार्मिक व समस्त रूप का जीना भी यही क्रिया हैं, धार्मिक मानस भी यही क्रिया है। अतः धर्म, मानस, जीवन, प्रेम, यह सब एक है।

●

8

समग्र का अवलोकन

प्रश्नकर्त्ता :—जब मैं आपको सुनता हूँ तो लगता है जिस विषय में आप बातें कर रहे हैं, वह समझ रहा हूँ—शाब्दिक रूप से नहीं पर किसी गहरे स्तर पर। मैं इसी का हिस्सा रहता हूँ; जो आप कह रहे हैं उसकी सच्चाई को अपने पूरे अस्तित्व से पूर्णरूपेण समझ रहा हूँ। मेरी श्रवणशक्ति तीखी हो जाती है, फूलों, वृक्षों, उन बर्फीले पहाड़ों का देखना मुझे यह महसूस कराता है कि मैं उनका हिस्सा हूँ। इस सजगता में कोई द्वन्द्व नहीं है, कोई अन्तर्विरोध नहीं है। यह तो ऐसा है जैसे मैं कुछ भी कर सकता हूँ और जो भी मैं करूंगा वह सच होगा तथा द्वन्द्व व पीड़ा नहीं लाएगा। पर दुर्भाग्यवश यह अवस्था टिकी नहीं रहती। जब मैं आपको सुन रहा हूँ तब शायद यह एक या दो घण्टे टिकती है। जब मैं इन वार्ताओं से वापस जाता हूँ तो लगता है सब कुछ वाष्पित हो गया है और मैं वहीं लौट आता हूँ जहाँ मैं पहले था। जब मैंने आपकी वार्ता सुनी तब जिस अवस्था में था उसे याद करता रहता हूँ

4

और उस तक पहुँचने की और उसे पकड़े रहने की चेष्टा करता रहता हूँ; और यह एक संघर्ष बन जाता है। आपने कहा : अपने द्वन्द्व के प्रति सजग होइए, अपने द्वन्द्व को सुनिये, अपने द्वन्द्व के कारणों को देखिये, आपका द्वन्द्व तो आप स्वयं हैं। मैं अपने द्वन्द्व, पीड़ा, दुःख, अस्तव्यस्तता के प्रति सजग हूँ पर यह सजगता किसी भी ढंग से इनका निराकरण नहीं करती। उल्टे इनके प्रति सजग होना इनको जीवन शक्ति व अवधि देना प्रतीत होता है। आप चुनाव रहित सजगता की बात करते हैं जो मेरे अन्दर फिर से संग्राम पैदा करती है क्योंकि मैं विकल्पों, फैसलों व मतों से भरा हूँ। इस सजगता को मैंने अपनी एक विशेष आदत पर लागू किया, और यह आदत नहीं छूटी है। जब आप किसी द्वन्द्व व तनाव के प्रति सजग हैं, तो यही सजगता यह देखती रहती है कि ये पहले से ही समाप्त तो नहीं हो गए हैं। और लगता है यही इसके बारे में याद दिलवा देता है; इससे आप पीछा नहीं छुड़ा सकते।

कृष्णमूर्ति :—सजगता, किसी चीज के प्रति वचनबद्धता नहीं है। सजगता एक प्रेक्षण है, बाहरी और अन्दरूनी दोनों, जिसमें निर्देशन रुक गया है। आप सजग हैं, पर जिस वस्तु के प्रति सजग हैं वह प्रोत्साहित या पोषित नहीं हो रही है। सजगता, किसी चीज पर एकाग्रता नहीं है। कोई निश्चित परिणाम उत्पन्न करने के लिए या विश्लेषण के लिए यह संकल्प की क्रिया भी नहीं है—यह चुनते हुए कि यह किसके प्रति सजग होगी। जब सजगता जान-बूझकर किसी विशेष वस्तु पर सकेंद्रित की जाती है—जैसे द्वन्द्व पर—तब यह संकल्प की क्रिया है जो एकाग्रता है। जब आप एकाग्र होते हैं—यानी कि अपनी चुनी हुई सीमाओं में सब ऊर्जा और विचार लगा देते हैं—चाहे तो पुस्तक पढ़ते हुए या क्रोध की निगरानी करते हुए—तब, इस अपवर्जन में, आप जिस वस्तु पर एकाग्र हैं, वह मजबूत या पोषित होती है। यहाँ हमें सजगता के स्वभाव को समझना होगा। जब हम सजगता शब्द का प्रयोग कर रहे हैं तब हम क्या-क्या बातें कर रहे हैं, हमें यह समझना है। या तो आप विशिष्ठ वस्तु के प्रति सजग हो सकते हैं या फिर ऐसे सजग हो सकते हैं कि विशिष्ट वस्तु समग्र का एक हिस्सा है। विशिष्ठ का स्वयं में बहुत कम अर्थ है पर जब आप सम्पूर्ण का अवलोकन करते हैं, तब उस विशिष्ठ का समग्र से सम्बन्ध है। केवल इसी सम्बन्ध में विशिष्ट का उचित अर्थ है : यह अतिमहत्वपूर्ण या अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं बन जाता। अतः वास्तविक प्रश्न है : आप जीवन की समग्र प्रक्रिया को देखते हैं या समस्त क्षेत्र को चूकते हुए विशिष्ठ पर एकाग्र हैं? जीवन के समग्र

क्षेत्र के प्रति सजग होना, विशिष्ठ को भी देखना है, साथ ही समग्र से विशिष्ठ के सम्बन्ध को समझना भी है। जब आप क्रोधित हैं और उस क्रोध को समाप्त करने से आपका सरोकार है, तब अपना ध्यान क्रोध पर सकेंद्रित करते हैं तब क्रोध मजबूत होता है तथा समग्र आपसे बच निकलता है। पर क्रोध और समग्र परस्पर सम्बन्धित हैं। जब आप विशिष्ठ को समग्र से अलग कर देते हैं, तो विशिष्ठ अपनी समस्याएं पैदा कर लेता है।

प्रश्नकर्त्ता :—समग्र के अवलोकन से आपका क्या अर्थ है ? यह सम्पूर्णता क्या है जिसके बारे में आप बात कर रहे हैं। क्या उस विस्तृत सजगता के बारे में, जिसमें विशिष्ठ ही विवरण है ? क्या यह कोई रहस्यमय गूढ़ अनुभव है ? अगर ऐसा है तब हम पूरी तरह भटक गये हैं। यह भी हो सकता है कि जो आप कह रहे हैं यह वही हो : अस्तित्व का समग्र क्षेत्र, जिसका क्रोध एक हिस्सा है, और इस हिस्से से सरोकार रखना विस्तृत प्रत्यक्षज्ञान को अवरुद्ध करना है ? पर यह विस्तृत प्रत्यक्षज्ञान क्या है ? मैं समग्र का अवलोकन इसके विशिष्टों द्वारा ही करता हूँ। आपका तात्पर्य किस समग्र से है ? क्या आप मानस, अस्तित्व, मेरी स्वयं की या जीवन की समग्रता की बात कर रहे हैं ? आपका मतलब किस समग्र से है ? मैं इसका अवलोकन कैसे कर सकता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—हम जीवन के समग्र क्षेत्र की बात कर रहे हैं, जिसमें मानस, प्रेम सभी कुछ है।

प्रश्नकर्त्ता :—इस सबको मैं सम्भवतः कैसे देख सकता हूँ ? मैं यह समझ सकता हूँ कि जो कुछ मैं देखता हूँ वह आंशिक है, मेरी सारी सजगता विशिष्ठ की सजगता है, और यह विशिष्ठ को मजबूत करती है।

कृष्णमूर्ति :—चलिए, इसे इस तरह पूछते हैं : क्या आप अपने मानस व हृदय से अलग-अलग प्रत्यक्षज्ञान करते हैं, या आप सब कुछ इकट्ठे, न कि खण्डित सुनते, महसूस करते व सोचते हैं ?

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे पता नहीं है कि आपका मतलब क्या है ?

कृष्णमूर्ति :—आप कोई एक शब्द सुनते हैं और आपका मानस आपको बताता है कि यह अपमान है, आपके मनोभाव बताते हैं कि यह आपको पसन्द नहीं

है, फिर उसे उचित ठहराने के लिए या नियन्त्रित करने के लिए आपका मानस फिर से दखल देता है, इत्यादि, इत्यादि। जहाँ से मानस ने समाप्त किया वहाँ मनोभाव एक बार फिर अधिकार जमाने आ जाता है। इस तरह एक घटना आपके अस्तित्व के विभिन्न हिस्सों की प्रतिक्रियाओं के सिलसिले पर से लगाम हटा देती है। जो आपने सुना उसे तोड़-मरोड़ दिया गया था, खण्डित कर दिया गया था, और अगर आप उसके एक खण्ड पर एकाग्र हैं, तो आप सुनने की समस्त प्रक्रिया से चूक जाते हैं। सुनना, खण्डित भी हो सकता है या आपके पूरे अस्तित्व से समस्त भी हो सकता है। अतः समग्र के प्रत्यक्षज्ञान से हमारा मतलब है, आँखों, कानों, हृदय एवं मानस से प्रत्यक्षज्ञान, न कि इनसे अलग-अलग। इसका अर्थ है आप द्वारा पूर्ण ध्यान देना। इस तरह ध्यान देने में विशिष्ट—जैसे क्रोध—का अलग ही मतलब है क्योंकि यह कई और विषयों से परस्पर सम्बन्धित है।

प्रश्नकर्त्ता :—जब आप समग्र के अवलोकन की बात करते हैं तो आपका तात्पर्य होता है : समस्त अस्तित्व से अवलोकन करना; यह गुणत्त्व का प्रश्न है न कि मात्रा का। क्या यह ठीक है ?

कृष्णमूर्ति :—जी हाँ, यथातथ्य। पर क्या आप समस्तता को इसी तरह देखते हैं या आप मात्र इसको शब्दों में व्यक्त कर रहे हैं ? क्या आप अपने क्रोध को अपने हृदय, मानस, कानों व आँखों से देखते हैं ? या आप क्रोध को शेष से असम्बन्धित रूप में देखते हैं ? जब आप समग्र को महत्व देते हैं तो आप विशिष्ट को भूल नहीं जाते।

प्रश्नकर्त्ता :—पर विशिष्ट यानी कि क्रोध का फिर क्या होता है ?

कृष्णमूर्ति :—आप क्रोध के प्रति अपने समग्र अस्तित्व से सजग हैं। अगर आप इस तरह सजग हैं तब क्या वहाँ क्रोध है ? लापरवाही क्रोध है न कि सतर्कता। पूरे अस्तित्व से ध्यान देना ही समग्र का अवलोकन है और असतर्कता विशिष्ट का देखना है। समग्र और विशिष्ट के सम्बन्ध के प्रति सजग होना ही सारी समस्या है। हम विशिष्ट को शेष से विभाजित कर देते हैं और फिर उसे सुलझाते हैं। अतः द्वन्द्व बढ़ जाता है और बाहर निकलने का रास्ता नजर नहीं आता।

कृष्णमूर्ति :—जब आप विशिष्ट को अपने अस्तित्व के एक खण्ड से देखते हैं, तब उस विशिष्ट व खण्ड, जो इसको देख रहा है, का विभाजन बढ़ जाता है, और द्वन्द्व भी बढ़ जाता है। जब कोई विभाजन नहीं है तब द्वन्द्व भी नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—जब मैं पूरे अस्तित्व से देखता हूँ, तब क्रोध और मुझमें कोई विभाजन नहीं है, क्या आप यह कह रहे हैं?

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल ठीक। क्या वास्तव में आप यही कर रहे हैं या आप केवल शब्दों को समझ रहे हैं? वास्तव में क्या हो रहा है? आपके प्रश्न से यह कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप मुझसे पूछते हैं कि क्या हो रहा है? मैं तो केवल आपको समझने की चेष्टा कर रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—क्या आप मुझे समझने का प्रयत्न कर रहे हैं या जिस विषय में बात कर रहे हैं उसकी सच्चाई देख रहे हैं, जो मुझसे अलग और स्वतन्त्र है? जिस विषय में हम बात कर रहे हैं, अगर आप वास्तव में उसकी सच्चाई देखते हैं तब आप अपने गुरु व शिष्य खुद हैं, ऐसा करना स्वयं को समझना है। यह समझ किसी अन्य से नहीं सीखी जा सकती।

9
नैतिकता

प्रश्नकर्त्ता :—सद्गुणी होना क्या है ? कोई सदाचारिता से कैसे कार्य करता है ? नैतिकता का क्या आधार है ? मैं सद्गुण को बिना इसके लिए संघर्ष किए कैसे जानूँ ? क्या यह अपने आप में अन्त खुद ही है ?

कृष्णमूर्ति :—क्या हम समाज की नैतिकता को, जो वास्तव में अनैतिक है, एक तरफ फेंक सकते हैं ? इसकी नैतिकता आदरणीय बन गई है; धार्मिक आदेशों द्वारा अनुमोदित है; और प्रति-क्रान्ति की नैतिकता भी जल्द ही उतनी ही अनैतिक व आदरणीय बन जाती है जितनी सुस्थापित समाज की। यह नैतिकता युद्ध शुरू कराती है, प्राण लेने की है, आक्रमण करने, सत्ता हथियाने और घृणा को उसका सही स्थान देने की है। यह तो स्थापित प्राधिकार की निर्दयता व अन्याय है। यह नैतिक नहीं है। पर क्या हम वास्तव में यह कह सकते हैं कि यह नैतिक नहीं है ? क्योंकि हम समाज का ही हिस्सा हैं, चाहे हम इससे

अभिज्ञ हों या नहीं। सामाजिक नैतिकता हमारी नैतिकता है, और क्या हम इसको सहजता से अलग कर सकते हैं? जिस सहजता से हम इसे अलग कर देते हैं, वह हमारी नैतिकता का ही चिह्न है—इसको अलग करने के प्रयत्न की कीमत नहीं, पुरस्कार नहीं, इस प्रयत्न के लिए सज़ा भी नहीं—पर चाहिये एक सरलता और सहजता जिससे इसे हम त्याग देते हैं। अगर हमारा आचरण, जिस परिवेश में हम रहते हैं, उससे निर्देशित, नियंत्रित व गढ़ा हुआ है, तब तो यह यान्त्रिक और अत्यधिक प्रतिबद्ध है। और अगर हमारा आचरण हमारी अपनी संस्कारिक अनुक्रियाओं का परिणाम है, तो क्या यह नैतिक है? अगर आप की क्रिया भय और पुरस्कार पर आधारित है, तो क्या यह क्रिया सदाचारी है? अगर आप किसी आदर्शवादी अवधारणा या सिद्धान्त के अनुसार आचरण करते हैं तो क्या यह क्रिया सद्‌गुणी मानी जा सकती है? अतः हमें यह पता लगाना आरम्भ करना चाहिए कि कितनी गहराई से हमने प्राधिकार, अनुकृति, अनुरूपता, आज्ञाकारिता की नैतिकता को त्याग दिया है। क्या भय हमारी नैतिकता का आधार नहीं है? जब तक इन प्रश्नों का मौलिक रूप से स्वयं के लिए उत्तर नहीं दिया जाता, तब तक आप यह नहीं जान सकते कि वस्तुतः सद्‌गुणी होना क्या है? जैसा हमने पहले ही कहा, जिस सहजता से आप इस मिथ्याचार से बाहर आते हैं, वही सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात होगी। अगर आप मात्र अवहेलना करते हैं, तो यह इस बात का सूचक नहीं है कि आप नैतिक हैं, हो सकता है आप मनोरोगमय हों। अगर आप नैत्य व सन्तोष का जीवन जीते हैं तो यह भी कोई नैतिकता नहीं है। जो साधुत्व की सुस्थापित परम्परा का अनुनय व अनुगमन करता है, उस साधु की नैतिकता भी स्पष्टतः नैतिकता नहीं है। आप यह देख सकते हैं कि संरचना का अनुनय—चाहे वह परम्परा द्वारा अनुमत है या नहीं—सदाचारी आचरण नहीं है। केवल मुक्ति से ही सद्‌गुण आ सकता है।

जिस चीज को नैतिक समझा जाता है उसके जाल से क्या आप स्वयं को बड़ी प्रवीणता व चतुराई से मुक्त कर सकते हैं? क्रिया में प्रवीणता मुक्ति से आती है और ऐसे ही सद्‌गुण भी।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैं अपने आपको सामाजिक नैतिकता से, बिना भय के बल्कि विवेक से जो प्रवीणता है, मुक्त कर सकता हूँ? समाज द्वारा अनैतिक माने जाने के विचार से ही मैं भयभीत हूँ। नौजवान इसे कर सकते हैं पर मैं प्रौढ़

हूँ, मेरा परिवार है, मेरे खून में ही कुलीनता है जो मध्यमवर्ग का सार तत्त्व है। स्थिति तो यह है और मैं भयभीत हूँ।

कृष्णमूर्ति :—सामाजिक नैतिकता को या तो आप स्वीकार करते हैं या अस्वीकार, आप दोनों नहीं कर सकते। आप एक पैर नरक में और दूसरा स्वर्ग में नहीं रख सकते।

प्रश्नकर्त्ता :—अब मैं करूँ तो क्या करूँ ? अब मुझे पता है कि नैतिकता क्या है, फिर भी हर समय मैं अनैतिक हूँ। जितना आयु में बड़ा होता हूँ उतना ही ढोंगी भी। मैं सामाजिक नैतिकता का तिरस्कार करता हूँ, फिर भी इसके लाभ, सुख, आराम, मनोवैज्ञानिक व भौतिक सुरक्षा और अपने को अच्छे कहलाने की चारुता भी चाहता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—आप कुछ नहीं कर सकते, वैसे ही चलते रहिए जैसे आप हैं। नैतिक बनने की कोशिश पर विराम चिह्न लगाना कहीं अधिक अच्छा है। सद्‌गुण से सम्बन्ध होने की कोशिश को रोक दें।

प्रश्नकर्त्ता—मैं यह नहीं कर सकता क्योंकि मुझे वह (अन्य) चाहिए ! मैं इस के सौन्दर्य, ओज, इसकी स्वच्छता को देखता हूँ। जिसको मैंने थाम रखा है वह गन्दा व भद्दा है, पर इसे नहीं छोड़ सकता।

कृष्णमूर्ति :—तब तो कोई प्रश्न ही नहीं है। आप प्रतिष्ठा और सद्‌गुण दोनों को एक साथ प्राप्त नहीं कर सकते। सद्‌गुण मुक्ति है। मुक्ति कोई संकल्पना या अवधारणा नहीं है। जब मुक्ति है तो सतर्कता है और केवल इसी सतर्कता में उत्तमता पुष्पित हो सकती है।

●

10

आत्म हत्या

प्रश्नकर्त्ता :—मैं आत्महत्या के विषय में बात करना चाहूँगा—इस लिए नहीं कि मेरे जीवन में कोई संकट है, ना ही इस लिए कि आत्म-हत्या करने के लिए मेरे पास कारण है। बल्कि जब कोई वृद्ध अवस्था का दुःख यानी शारीरिक विघटन की त्रासदी और देह का टूटना देखता है और जब यह सब घटता रहता है तब मनुष्य वास्तविक जीवन की क्षति को देखता है, और तभी यह प्रश्न उठता है। जब कोई इस अवस्था में पहुँचता है तो जीवन को अधिक लम्बा करने और इसके बचे हुए टुकड़ों के साथ आगे बढ़ते रहने का क्या कोई कारण है ? जीवन की जब उपयोगिता ही समाप्त हो जाए तब ऐसी अवस्था को पहचानना क्या प्रज्ञा की क्रिया नहीं होगी ?

कृष्णमूर्ति :—अगर प्रज्ञा ने आप को जीवन का अन्त करने के लिए प्रेरित किया है, तब उसी प्रज्ञा ने देह के असामयिक ह्रास से आपको रोका भी होगा।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या कोई ऐसा क्षण नहीं आता है जब मानस की बुद्धि भी इस ह्रास को नहीं रोक सकती ? अन्ततः यह देह छीज जाता है—जब ऐसा समय आये तो कैसे कोई इसे पहचाने ?

कृष्णमूर्ति :—हमें इसमें गहराई से जाना चाहिए। इसमें बहुत सी बातें शामिल हैं, क्या ऐसा नहीं है ? देह का ह्रास, जीव का ह्रास, मानस की जराजीर्णता और उसकी नितान्त असमर्थता जो प्रतिरोध उत्पन्न करती है। चालू प्रथा, आस्वाद और लापरवाही द्वारा हम देह का निरन्तर दुरूपयोग करते हैं। आस्वाद ही आदेश देता है—इसकी चाह जीव के कार्यकलापों को नियन्त्रित करती है, उसे ढालती है। जब यह सब घटित होता है, तब देह की स्वाभाविक प्रज्ञा का विनाश हो जाता है। पत्र-पत्रिकाओं में आप सुन्दरता से रंगे हुए भोजन की असाधारण किस्मों को देखते हैं जो आप की आस्वाद की चाह को तो भाते हैं पर वह आप की देह के लिए लाभदायक नहीं हैं। किशोरावस्था से आगे तक जिसे बहुत संवेदनशील, चुस्त, व श्रेष्ठ मशीन की तरह कार्य करते होना चाहिए, आप उसी उपकरण को धीरे-धीरे निर्जीव बना देते हैं, तथा उस उपकरण का नाश कर देते हैं। यह तो हुआ इसका एक हिस्सा। और तब वहाँ है वह मानस जो बीस, तीस या अस्सी वर्षों से सतत संग्राम व प्रतिरोध में जीया है। यह केवल अन्तर्विरोध एवं द्वन्द्व जानता है—चाहे भावात्मक अथवा बौद्धिक। द्वन्द्व का प्रत्येक रूप ना केवल विकृति है बल्कि अपने साथ विनाश भी लाता है—अपनी पृथकात्मक क्रियाओं सहित अनवरत् स्वयं-केन्द्रित क्रिया, यह ह्रास के कुछ मौलिक अन्दरूनी व बाह्य कारण हैं।

निसन्देह देह का शारीरिक तौर से छीजना तो प्रकृति का नियम है पर इसके अलावा अप्राकृतिक छीजना भी होता है। देह अपनी सामर्थ्य व स्मृतियाँ खो देता है और जराजीर्णता क्रमशः अधिकार में आ जाती है। आप पूछते हैं : क्या ऐसे व्यक्ति को आत्म-हत्या नहीं कर लेनी चाहिए और बस, एक गोली खा ले जो उसकी जीवन-लौ को बुझा दे ? यह प्रश्न कौन पूछ रहा है : वह जो जराजीर्ण है या वह जो दुःख, नैराश्य, और अपने खुद के ह्रास के भय से जराजीर्णता को देख रहा है ?

प्रश्नकर्त्ता :—खैर, मेरे दृष्टिकोण से प्रश्न दूसरे लोगों में जराजीर्णता को देखने की व्यथा से अभिप्रेरित है, क्योंकि अनुमानतः अभी तक मुझमें तो जराजीर्णता

आरम्भ हुई नहीं है। पर क्या प्रज्ञा की कोई ऐसी क्रिया नहीं है जो देह के सम्भव टूट जाने को देखती है और यह पूछती है: जब देह अब और विवेक पूर्ण जीवन के काबिल नहीं है तब क्या आगे जीते रहना बेकार नहीं है?

कृष्णमूर्ति :—क्या डाक्टर सुख-मृत्यु की अनुमति देंगे? क्या डाक्टर या सरकार रोगी को आत्म-हत्या करने की इजाजत देंगे?

प्रश्नकर्त्ता :—यह तो निश्चय ही कानून या समाज वैज्ञानिक या कुछ लोगों के अनुसार नैतिकता का प्रश्न है, लेकिन यह वह तो नहीं है जिस पर हम विचार-विमर्श कर रहे हैं, क्या यह है? क्या हम यह नहीं पूछ रहे हैं कि, क्या व्यक्ति को अपना जीवन समाप्त करने का अधिकार है? यह नहीं कि क्या समाज इसकी अनुमति देगा अथवा नहीं देगा?

कृष्णमूर्ति :—आपका प्रश्न है: क्या किसी को अपनी जान लेने का अधिकार है—ना सिर्फ तब जब वह जराजीर्ण है या जराजीर्णता के पास आने के प्रति सजग है, पर क्या किसी भी समय आत्म-हत्या करना नैतिक रूप से उचित है?

प्रश्नकर्त्ता :—इसमें नैतिकता लाने से मैं हिचकिचाता हूँ, क्योंकि नैतिकता तो संस्कारबद्ध है। प्रज्ञा के सीधे विषय पर प्रश्न पूछने का मैं प्रयास कर रहा हूँ। मैं सोचता हूँ कि मैं काफी अनासक्ति से इस पर दृष्टि डालने के काबिल हूँ क्योंकि भाग्यवश इस पल यह विषय व्यक्तिगत रूप से मेरे सामने नहीं है। पर मानवीय प्रज्ञा के संदर्भ में आपका क्या उत्तर है?

कृष्णमूर्ति :—आप कह रहे हैं कि क्या समझदार व्यक्ति आत्महत्या कर सकता है? आप यही कह रहे हैं न?

प्रश्नकर्त्ता :—या विशेष परिस्थितियों के प्रदत्त आत्महत्या क्या समझदार व्यक्ति की क्रिया हो सकती है?

कृष्णमूर्ति :—दोनों एक ही बात है। आखिर कर, आत्महत्या की घटना घटती है पूर्ण नैराश्य से जो गहरी कुण्ठा से आता है, और या असामाध्येय भय से या फिर किसी निश्चित जीने के ढंग की अर्थहीनता के प्रति सजगता से।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैं बीच में बोल सकता हूँ यह कहने के लिए कि सामान्यतः यह ऐसा ही है, पर मैं किसी भी अभिप्रेरणा के बाहर रहते हुए यह प्रश्न

पूछने की कोशिश कर रहा हूँ। जब कोई नैराश्य के विन्दु पर पहुँच जाता है तब तो वहाँ अत्यधिक अभिप्रेरणा ही निहित होती है और भावना को प्रज्ञा से अलग करना कठिन हो जाता है। मैं तो विशुद्ध प्रज्ञा के परिमण्डल में रहने की चेष्टा कर रहा हूँ, बिना किसी निहित भावना के।

कृष्णमूर्ति :—आप पूछ रहे हैं कि क्या प्रज्ञा, आत्महत्या के किसी भी रूप की, अनुमति देती है ? मैं तो कहूँगा, बिलकुल नहीं।

प्रश्नकर्त्ता :—क्यों नहीं ?

कृष्णमूर्ति :—हमें वास्तव में प्रज्ञा शब्द को समझना है। प्रथा, अतिभोग, आस्वाद के पोषण से, सुख इत्यादि से, देह के खोने की अनुमति देना क्या प्रज्ञा है ? क्या यह प्रज्ञा की क्रिया है ?

प्रश्नकर्त्ता :—नहीं ! यह प्रज्ञा नहीं है। पर अगर कोई जीवन में उस विन्दु पर पहुँच गया है जहाँ निश्चित मात्रा में देह का नासमझी से प्रयोग हुआ है, पर इसका अभी देह पर प्रभाव नहीं हुआ है, तब कोई अपने जीवन को फिर से जीने के लिए वापस तो लौट नहीं सकता।

कृष्णमूर्ति :—अतः जिस विनाशकारी ढंग से हम जीते हैं उसके प्रति सजग होना होगा और इसका अन्त तत्काल करना होगा—भविष्य की किसी तिथि में नहीं। संकट के सम्मुख तत्कालिकता की क्रिया, विवेकपूर्ण व प्रज्ञा की क्रिया है। स्थगन व भोग-विलास का पीछा करना प्रज्ञा के अभाव को सूचित करता है।

प्रश्नकर्त्ता :—यह मैं समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—क्या आप वह सब कुछ, जो तथ्यपूर्ण व सच है, उसको नहीं देखते ? स्वयं-केंद्रित क्रिया सहित विचार की पृथक्तावादी प्रक्रिया आत्महत्या का ही एक रूप है, क्या आप इस तथ्य को नहीं देखते ? पृथक्ता भी तो आत्म-हत्या ही है—चाहे यह पृथक्ता राष्ट्र, धार्मिक संगठन, परिवार या समुदाय की ही क्यों न हो। आप तो पहले ही से उस फन्दे में फँस चुके हैं जो आखिर-कार आत्महत्या की ओर ले जाता है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आपका अर्थ व्यक्ति से है या समूह से ?

कृष्णमूर्ति :—व्यक्ति से भी और समूह से भी। आप तो पहले ही प्रारूप में फँस चुके हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—जो आखिर में आत्महत्या की ओर ले जायेगा ? पर हर कोई तो आत्महत्या नहीं करता।

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल ठीक। पर इसमें पलायन की इच्छा का तत्व तो निहित है—तथ्यों का "जो है" का सामना करने से पलायन, और यह पलायन आत्म-हत्या का रूप है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं सोचता हूँ कि मैं जो पूछने की कोशिश कर रहा हूँ उसका यही मर्म है। आपने जो कुछ अभी कहा उससे लगता है कि आत्महत्या पलायन है। सौ में से निन्यानवे स्पष्टतः यही हैं। पर क्या यह नहीं हो सकता—और यही मेरा प्रश्न है—कि क्या ऐसी आत्म-हत्या नहीं हो सकती जो पलायन नहीं है, जो जिसे आप "जो है" कहते हैं का परिवर्जन नहीं है; उल्टे "जो है" के प्रति प्रज्ञा की अनुक्रिया है ? हम कह सकते हैं कि कई प्रकार के मनोरोग आत्म-हत्या के ही रूप हैं। पर मैं यह पूछने की कोशिश कर रहा हूँ कि क्या आत्म-हत्या कभी मनोरोग की अनुक्रिया से भिन्न हो सकती है ? क्या यह तथ्यों का सामना करने की अनुक्रिया नहीं हो सकती ? क्या यह अतर्कसंगत मानवीय परिस्थितियों पर कार्यवाही करती हुई मानवीय प्रज्ञा की अनुक्रिया नहीं हो सकती ?

कृष्णमूर्ति :—जब आप "प्रज्ञा" और "अतर्कसंगत परिस्थिति" शब्दों का प्रयोग करते हैं तो अन्तर्विरोध है। दोनों ही एक दूसरे के अन्तर्विरोध में हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—आपने कहा कि अगर कोई किसी हमलावर घातक साँप का या जोखिम का सामना कर रहा है तो प्रज्ञा ही विशेष क्रिया का आदेश देती है, जो परिवर्जन या अवहेलना करने का ही कार्य है।

कृष्णमूर्ति :—यह परिवर्जन की क्रिया है या प्रज्ञा की ?

प्रश्नकर्त्ता :—क्या यह दोनों एक समान नहीं हो सकते ? राजमार्ग पर यदि एक कार मेरी ओर आ रही है और मैं इससे बचता हूँ तो..............

कृष्णमूर्ति :—यह प्रज्ञा कि क्रिया है।

प्रश्नकर्त्ता :—पर यह कार से बचने की क्रिया भी तो है।

कृष्णमूर्ति :—पर यह प्रज्ञा की क्रिया है।

प्रश्नकर्त्ता :—बिलकुल ठीक। इसलिए, जो वस्तु आपका सामना कर रही है और जब वह असामाधेय व घातक है, तब क्या यही उपपरिणाम जीवन में लागू नहीं होता ?

कृष्णमूर्ति :—तब आप इसे छोड़ देते हैं, जैसे जोखिम को छोड़ देते हैं। आप इससे दूर हट जाते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—इस अवस्था में दूर हटने का अर्थ है आत्महत्या।

कृष्णमूर्ति :—नहीं, नहीं, आत्महत्या नासमझी की क्रिया है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्यों ?

कृष्णमूर्ति :—यह मैं आपको अभी समझाता हूँ।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप यह कह रहे हैं कि आत्महत्या की क्रिया निरपेक्ष व अपरिहार्य रूप से जीवन के प्रति मनोरोगी की अनुक्रिया है ?

कृष्णमूर्ति :—स्पष्टतः यह नासमझी की क्रिया है। यह ऐसी क्रिया है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि आप ऐसे बिन्दु पर पहुँच गये हैं जहाँ आप पूर्णतः पृथक् हैं तथा आपको बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं सूझता।

प्रश्नकर्त्ता :—इस चर्चा के उद्देश्य से मैं यह मान लेने की कोशिश कर रहा हूँ कि इस दुर्दशा से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है, दुःख-भोग से बचने की अभिप्रेरणावश कोई यह क्रिया नहीं कर रहा है, और यह वास्तविकता से हटना भी नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—क्या जीवन में कोई घटना, सम्बन्ध या ऐसा वृतान्त है जिससे आप दूर नहीं हट सकते ?

प्रश्नकर्त्ता :—बिलकुल, बहुत सारे है।

कृष्णमूर्ति :—बहुत सारे ? फिर आप क्यों आग्रह करते हैं कि आत्महत्या बाहर निकलने का एक मात्र रास्ता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—अगर किसी को घातक रोग है तब तो इससे छुटकारा नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—अब आप सावधान हो जाएं, सावधान हो जाएं कि आप क्या कह रहे हैं। मुझे कैन्सर है और यह मेरा अन्त करने वाला है और डाक्टर कहता है "अच्छा, मेरे मित्र, तुमको इसके साथ ही रहना होगा।" तो अब मैं क्या करूं ? आत्महत्या कर लूं ?

प्रश्नकर्त्ता :—सम्भवतः।

कृष्णमूर्ति :—ऐसा लगता है कि हम इसकी सिद्धान्तः चर्चा कर रहे हैं। अगर मुझे व्यक्तिगत रूप से जानलेवा कैन्सर है, तब मैं निर्णय करूंगा, विचार

करूँगा कि अब मुझे क्या करना है। तब यह सैद्धान्तिक प्रश्न नहीं रहेगा। तब मैं यह पता लगाऊँगा कि सबसे ज्यादा समझदारी की कौन सी चीज है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह प्रश्न सिद्धान्तः नहीं पूछ सकता, केवल तभी पूछ सकता हूँ जब मैं वास्तव में ही उस स्थिति में हूँ, क्या आप यही कह रहे हैं ?

कृष्णमूर्ति :—यह ठीक है। तब आप अपनी प्रतिबद्धता, प्रज्ञा, जीवन के ढंग के अनुसार क्रिया करेंगे। अगर आपका जीने का ढंग बचाव, पलायन या तन्त्रिका रोगी व्यवहार के समान रहा है तब आप स्पष्टतः तन्त्रिका-रोगी दृष्टिकोण अपनायेंगे और क्रिया भी वैसी करेंगे। अगर आपने सच्ची प्रज्ञा का जीवन व्यतीत किया है—इस शब्द के सम्पूर्ण अर्थ में—तब जब जानलेवा कैन्सर होगा तब यह प्रज्ञा अपने आप कार्य करेगी। तब कदाचित् मैं इसे बरदाश्त कर लूँगा, या कदाचित् मैं तब यह कह सकूँगा "जो मेरे पास कुछ महीने या साल बचे हैं वही मैं जीऊँगा।"

प्रश्नकर्त्ता :—या कदाचित् आप ना कहें।

कृष्णमूर्ति :—या कदाचित् मैं यह ना कहूँ। पर कम से कम हम यह तो न कहें कि आत्महत्या अवश्यमभावी है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैंने ऐसा तो कभी नहीं कहा। मैंने तो यह पूछा था : अगर कुछ कठोर परिस्थितियों के अन्तर्गत जैसे जानलेवा कैन्सर, ऐसी स्थिति में आत्महत्या शायद प्रज्ञावान अनुक्रिया है।

कृष्णमूर्ति :—इसमें कुछ असाधारण बात छिपी है, कृपया उसे देखें। जिन्दगी ने आप को महान् खुशियाँ दी है, आपको अनोखा सौन्दर्य दिया है, आपको बहुत से लाभ दिए हैं और आप इन सबके साथ रहे। इसी तरह, जब आप दुःखी थे तो आप अपने दुःख के साथ रहे, जो प्रज्ञा का हिस्सा है। अब आप जानलेवा कैन्सर तक पहुँच जाते हैं और कहते हैं "मैं इसे ज्यादा सहन नहीं कर सकता, मुझे जीवन का अन्त कर ही देना चाहिए।" आप क्यों नहीं इसके साथ आगे बढ़ते ? आप क्यों नहीं इसके साथ जीते ? जैसे-जैसे आप इसके साथ आगे बढ़ें इसके बारे में पता लगाते जायें।

प्रश्नकर्त्ता :—दूसरे शब्दों में, जब तक हम उस स्थिति में नहीं हैं, तब तक इस प्रश्न का उत्तर नहीं हो सकता।

कृष्णमूर्ति :—यह तो स्पष्ट है। और इसीलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है, जैसा मैं महसूस करता हूँ, कि हमें तथ्य का सामना करना चाहिए, एक क्षण से दूसरे क्षण तक "जो है" का सामना करना चाहिए, और इसके बारे में सिद्धान्त नहीं बनाना चाहिए। अगर कोई बीमार है—निराशाजनक रूप से केन्सर से बीमार है, या बिलकुल ही जराजीर्ण हो गया है—तो कौन सी क्रिया सबसे ज्यादा समझदारी की है, मात्र मुझ जैसे द्रष्टा के लिए नहीं, पर डाक्टर या पत्नी या लड़की के लिए ?

प्रश्नकर्त्ता :—कोई सचमुच इसका उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि यह समस्या तो दूसरे व्यक्ति की है।

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल यही बात है। यही बात तो मैं कह रहा हूँ।

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे व्यक्ति के जीवन या मृत्यु के बारे में निर्णय करने का किसी अन्य को कोई अधिकार नहीं हैं।

कृष्णमूर्ति :—पर हम यह निर्णय करते हैं। सभी तानाशाही शासन यही करते हैं। सभी परम्परा यही करती है; परम्परा बताती है कि आपको इस ढंग से रहना चाहिये, आपको उस ढंग से नहीं रहना चाहिये।

प्रश्नकर्त्ता :—और यह भी तो परम्परा बन गई है कि प्रकृति से हार मान जाने पर भी लोगों को उस बिन्दु से आगे जिन्दा रखना। चिकित्सा कौशल द्वारा आज व्यक्तियों को जिन्दा रखा जाता है। खैर, प्राकृतिक अवस्था क्या है इसकी परिभाषा देना तो कठिन है पर जितने लम्बे समय के लिए आजकल कुछ लोग जीवित रहते हैं यह अवश्य ही अप्राकृतिक लगता है। पर यह अलग प्रश्न है।

कृष्णमूर्ति :—हाँ, यह बिलकुल अलग प्रश्न है। वास्तविक प्रश्न तो यह है : हालाँकि डाक्टरों ने यह कह दिया है कि रोग असाध्य है, फिर भी क्या प्रज्ञा आत्महत्या की अनुमति देगी ? इस विषय में कोई एक दूसरे को यह नहीं बता सकता कि उसे क्या करना चाहिये। जिस मानव को कोई असाध्य रोग है उसीको प्रज्ञा के अनुसार क्रिया करनी होगी। अगर वह थोड़ा सा भी प्रज्ञावान है—जिसका अर्थ है उसने ऐसा जीवन जीया है जिसमें प्रेम, संवेदनशीलता और सौम्यता है—तब ऐसा व्यक्ति उस क्षण में उसी प्रज्ञा के अनुसार क्रिया करेगा जो गत में सक्रिय रही है।

प्रश्नकर्त्ता :—तब तो एक ढंग से यह समस्त बातचीत ही व्यर्थ है, क्योंकि वैसा तो बहरेलाल होता ही—क्योंकि अतीत में जो कुछ हुआ है अनिवार्यतः लोग उसके अनुसार ही कार्य करेंगे। वे या तो अपने मस्तिष्क को नष्ट कर देंगे या जब तक मर नहीं जाते तब तक बैठकर. दुःख भोगेंगे या फिर इन दोनों के बीच का कुछ होगा।

कृष्णमूर्ति :—नहीं, यह बातचीत व्यर्थ नहीं हुई है। कृपया इस पर ध्यान दें : हमने बहुत सी बातें खोजी है—मुख्यतः प्रज्ञा से जीना सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। अत्यधिक प्रज्ञावान ढंग से जीना, मानस और देह की असाधारण सतर्कता की माँग करता है। देह को सतर्कता का हमने अप्राकृतिक जीने के ढंगों से नाश कर दिया है। द्वन्द्व, सतत् दमन, निरन्तर विस्फोटन व हिंसा द्वारा हम मानस और मस्तिष्क का भी विनाश कर रहे हैं। इन सबका निषेध करता हुआ, अगर कोई जीवन को ऐसे ढंग से जीता है, और तब यदि असाध्य रोग से सामना होता है तब उस क्षण प्रज्ञा उचित कार्य करेगी।

प्रश्नकर्त्ता :—मैंने प्रश्न तो पूछा था आत्महत्या के बारे में लेकिन मुझे उत्तर मिला है कि उचित ढंग से कैसे जएं।

कृष्णमूर्ति :—केवल यही वह रास्ता है। पुल से कूदता हुआ व्यक्ति यह नहीं पूछता, "क्या मैं आत्महत्या कर लूं?" वह तो आत्महत्या कर रहा है और वहीं पर यह सिलसिला खत्म हो जाता है। जब कि एक सुरक्षित घर या प्रयोगशाला में बैठे हुए इस प्रश्न का पूछना कि 'व्यक्ति को आत्महत्या करनी चाहिए या नहीं", का कोई अर्थ नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—तो इसके मानी यह प्रश्न हम नहीं पूछ सकते।

कृष्णमूर्ति :—नहीं, यह बात नहीं है। किसी को आत्महत्या करनी चाहिए या नहीं, यह प्रश्न अवश्य पूछा जाना चाहिए। किन्तु इस प्रश्न के पीछे क्या है यह पता लगायें, प्रश्नकर्त्ता को प्रेरित कौन कर रहा है इसे पता लगायें; उसकी आत्महत्या करने की इच्छा किस चीज से बनती है। हम एक ऐसे व्यक्ति को जानते हैं जिसने कभी आत्महत्या नहीं की, क्योंकि वह पूर्णतः आलसी है, हालांकि आत्महत्या करने के लिए वह हमेशा डराता व धमकाता रहा है। वह चाहता है हर कोई उसको सहायता दे, वह खुद कुछ भी नहीं करना चाहता; ऐसे व्यक्ति ने तो पहले ही आत्महत्या कर ली है। वह व्यक्ति जो

5

हठी है, संदेही है, सत्ता और पद के लिए लालची है, उसने भी आंतरिक रूप से आत्महत्या कर ली है। वह प्रतिमाओं की दीवार के पीछे रहता है। जो व्यक्ति अपने ही परिवेश या परिस्थिति या राजनीतिक धर्म एवं सत्ता की प्रतिमा के साथ जीता है, वह पहले से ही समाप्त हो चुका है।

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि आप जो कुछ कह रहे हैं वह यह है कि कोई भी जीवन जो प्रत्यक्ष रूप से नहीं जीया गया ... .

कृष्णमूर्ति :—प्रत्यक्ष रूप से और प्रज्ञा के साथ।

प्रश्नकर्त्ता :—प्रतिबद्धता और सोच-विचार की प्रतिमाओं की छाया से बाहर ......जब तक कोई ऐसे नहीं जीता, जीवन एक किस्म का निकृष्ट अस्तित्व है।

कृष्णमूर्ति :—अवश्य ही यही है। अधिकतर लोगों को आप देखें; वह एक दीवार के पीछे रहते हैं—उनके ज्ञान, इच्छाओं, महत्वाकांक्षी प्रवृत्तियों की दीवार। ऐसे लोग विक्षिप्तता की अवस्था में हैं, यह विक्षिप्तता उन्हें निश्चित सुरक्षा देती है, जो आत्महत्या की सुरक्षा है।

प्रश्नकर्त्ता :—आत्महत्या की सुरक्षा!

कृष्णमूर्ति :—एक गायक का उदाहरण लीजिए; उसके लिए आवाज ही सबसे महान सुरक्षा है और जब वह नष्ट हो जाती है, तब वह आत्महत्या करने को तैयार हो जाता है। वास्तव में जो उत्तेजनापूर्ण व सच है वह यह कि अपने लिए एक ऐसे जीने के ढंग का पता लगाना जो अति संवेदनशील हो व अति प्रज्ञावान हो : किन्तु अगर वहाँ भय है चिन्ता, लालच, डाह, प्रतिमाओं का निर्माण या धार्मिक पृथकता है, तब तो ऐसा जीवन सम्भव नहीं है। यही वह पृथकता है जो हर धर्म ने उपलब्ध कराई है; आस्तिक निश्चित रूप से ही आत्महत्या की दहलीज पर है। यह इसलिये कि उसने अपनी समस्त निष्ठा किसी एक विश्वास पर लगा दी है, और जब उस विश्वास पर प्रश्न चिह्न लगता है तब वह भयभीत हो उठता है और इस विश्वास को छोड़कर दूसरे विश्वास या दूसरी प्रतिमा को थामने के लिए तैयार हो जाता है—इस तरह दूसरी धार्मिक आत्महत्या के लिए। क्या मनुष्य बिना किसी प्रतिमा, प्रारूप, काल–अनुभूति के जी सकता है? मेरे कहने का मतलब यह नहीं है कि उस ढंग से जीना कि कल क्या होगा या कल क्या हुआ इसकी कुछ परवाह ही ना

हो। यह जीवन नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं, "वर्तमान को लो और इसीको उत्कृष्ठ बनाओ," यह भी नैराश्य की क्रिया है। हमें सचमुच यह नहीं पूछना चाहिए कि आत्महत्या करना उचित है या नहीं, बल्कि हमें यह पूछना चाहिए कि वह कौन सी वस्तु है जो मानस को इस अवस्था में पहुँचाती है कि वहाँ कोई आशा ही नहीं है—हालांकि आशा शब्द गलत है। क्योंकि आशा में भविष्य नीहित है। हमें यह पूछना चाहिए कि : वह जीवन कैसे उत्पन्न हो सकता है जो बिना समय के है। बिना समय के जीना वास्तव में महान् प्रेम की अनुभूति होना है, क्योंकि प्रेम समय नहीं है, प्रेम कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो थी या होगी। इसका अन्वेषण करना तथा इसके साथ जीना ही वास्तविक प्रश्न है। आत्महत्या करनी चाहिए या नहीं, यह उस व्यक्ति का प्रश्न है जो पहले ही अंशतः मृत है। आशा बहुत ही विकराल वस्तु है। क्या यह दान्ते नहीं था जिसने कहा था "छोड़ दो उम्मीद को पीछे, जब करो प्रवेश नरक में"। दान्ते के लिए तो स्वर्ग ही आशा थी। यह कितनी गलत बात है।

प्रश्नकर्त्ता :—हाँ, आशा तो अपना नरक खुद ही है।

11

अनुशासन

प्रश्नकर्त्ता :—मैं एक बहुत ही प्रतिबन्धित परिवेश एवं कठोर अनुशासन में पाला गया हूँ; ना केवल बाह्य आचरण के लिए, परंतु अपने आप को अनुशासित करना, अपने विचारों व अभिलाषाओं को नियंत्रण करना; कुछ चीजों का नियमित रूप से करना मुझे सिखाया गया है। निष्कर्ष यह है कि मैं अपने आपको इतना बंधा हुआ पाता हूँ कि मैं कुछ भी सहजता, स्वतन्त्रता और खुशी से नहीं कर पाता। मैं स्तब्ध रह जाता हूँ अपने इर्द-गिर्द इस अनुशासनात्मक समाज को देखकर जहाँ दलदल है, गन्दगी है, लापरवाही भरा आचरण एवं शिष्टाचार है—हालांकि गुप्त रूप से इनमें से कुछ चिजें तो मैं भी करना चाहता हूँ। यद्यपि अनुशासन ने निश्चित मूल्य आरोपित किए हैं, फिर भी यह अपने साथ कुण्ठा एवं विकृति लाया है। निःसन्देह कुछ अनुशासन तो जरूरी है—उदाहरण के लिए, शालीनता से बैठना, उचित ढंग से खाना और सावधानी से बोलना : बिना अनुशासन के आप संगीत, साहित्य या चित्रकला के सौन्दर्य का साक्षात नहीं कर सकते। अच्छा शिष्टाचार व प्रशिक्षण प्रतिदिन के

सामाजिक व्यवहार की कई कुछ बारीकियाँ प्रकट करता है। जब मैं आधुनिक पीढ़ी को देखता हूँ तो सोचता हूँ कि उनके पास किशोरावस्था का सौन्दर्य तो है, पर बिना अनुशासन के वह जल्द ही मुरझा जायेंगे और थके हुए वृद्ध आदमी या औरत बन जायेंगे। इस सब कुछ में त्रासदी है। आप एक जवान व्यक्ति को देखते हैं, लचीला, उत्सुक, मनोहर मुस्कराहट व निर्मल आँखों के साथ सुन्दर, और कुछ वर्षों बाद आप उसको दुबारा देखते हैं तो वह लगभग पहचाना ही नहीं जा सकता—बेढंगा, निर्दय, उदासीन, नीरसता से भरा हुआ, अति आदरणीय, कठोर, भद्दा, अवरूद्ध व भावुक। निसंदेह अनुशासन उसे बचा सकता था। मैं—जिसका पूरा अस्तित्व ही अनुशासित किया गया है—अक्सर आश्चर्य करता हूँ कि इस अनुज्ञात्मक समाज व संस्कृति, जिसमें मैं पाला गया था, के बीच मध्यमार्ग कौन सा है। क्या बिना अनुशासन की विकृति व दमन के जीने का कोई रास्ता है, लेकिन साथ ही साथ अपने आप में अति अनुशासित भी रहें।

कृष्णमूर्ति :—अनुशासन का अर्थ सीखना है, नाकि अनुरूपता, दमन या उस प्रारूप की अनुकृति जो स्वीकृत सत्ता द्वारा कुलीन माना जाता है। यह बहुत पेचिदा प्रश्न है क्योंकि इसमें बहुत सी बाते निहित हैं: सीखना, आडम्बरहीन होना, मुक्त व संवेदनशील होना तथा प्रेम की सुन्दरता को देखना।

सीखने में कोई संचयन नहीं है। ज्ञान, सीखने से भिन्न है। ज्ञान संचयन है, निष्कर्ष व फारमूला है, पर सीखना, बिना केन्द्र के, बिना आरम्भ और अन्त के, एक सतत् गति है। स्वयं अपने बारे में सीखने के लिये किसी प्रकार का संचयन नहीं होना चाहिये; यदि ऐसा है तो यह अपने बारे में सीखना नहीं हुआ—यह केवल अपने बारे में संचित किये ज्ञान में कुछ और अधिक जोड़ना ही हुआ। प्रत्यक्षज्ञान की मुक्ति, अवलोकन की मुक्ति, यही सीखना है। अगर आप मुक्त नहीं हैं, तो आप सीख नहीं सकते। अतः सीखना स्वयं का अनुशासन खुद है। ऐसा नहीं है कि पहले आप अनुशासित हो और फिर सीखें। अतः अनुशासन मुक्ति है। यह अनुरूपता का व नियन्त्रण का नकारना है, क्योंकि नियन्त्रण का अर्थ है प्रारूप की अनुकृति करना। प्रारूप दमन है, "जो है" का दमन है; क्या अच्छा है और क्या बुरा है का फारमूला जब तक है तब तक 'जो है' के सीखने का निषेध हो जाता है। 'जो है' के विषय में सीखना "जो है" से मुक्ति है। अतः सीखना अनुशासन का सर्वोच्च रूप है। सीखना, प्रज्ञा व संवेदनशीलता की अपेक्षा करता है।

पुजारी व मठवासी की साधना कठोर होता है। जिन्हें प्रज्ञा ने अनदेखा कर दिया है, उन्हें छोड़ वह अपनी कुछ अभिलाषाओं का निषेध कर देते हैं। साधु तो कठोर हिंसा की जीत है। साधारणतया अनुशासन की पाशविकता का ड्रिल व अनुरूपता द्वारा आत्मत्याग की साधना से समीकरण किया जाता है। साधु एक खिलाड़ी की तरह रिकार्ड तोड़ने की कोशिश कर रहा है। इसकी असत्यता को देखना खुद ही आडम्बरहीनता लाता है। साधु घटिया किस्म का व मूर्ख व्यक्ति है। इसी को देखना प्रज्ञा है। ऐसी प्रज्ञा आत्यन्तिकता के दूसरे छोर पर नहीं चली जाती। प्रज्ञा संवेदनशीलता है जो समझती हैं और इसीलिए आत्यीन्तकता से बचती है। पर मध्यमार्ग में रहना भी कोई विवेकपूर्ण सामान्यता नहीं है। इसका स्पष्ट प्रत्यक्षज्ञान करना इसके बारे में सीखना है। इस बारे में सीखने हेतु सभी निष्कर्षों व पक्षपातों से मुक्ति होनी चाहिए। ऐसे निष्कर्ष व पक्षपात एक केन्द्र या "अहम"—जो इच्छा करता है और निर्देश देता है—से प्रेक्षित हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—ठीक ढंग से देखने के लिए हमें विषयपरक होना चाहिए, क्या आप यह नहीं कह रहे हैं ?

कृष्णमूर्ति :—जी हाँ, पर विषयपरक शब्द काफी नहीं है। हम जिस विषय पर बातें कर रहे हैं वह सूक्ष्मदर्शी यन्त्र की रूक्ष विषयपरकता नहीं है, बल्कि एक ऐसी अवस्था है जिसमें करुणा है, संवेदनशीलता है, गहराई है। जैसा हमने अभी कहा, अनुशासन ही सीखना है और आडम्बरहीनता के बारे में सीखना अपने या दूसरे के प्रति हिंसा नहीं लाता। जैसा की साधारणतः समझा जाता है, अनुशासन संकल्प की क्रिया है, जो हिंसा है।

पूरी दुनिया में लोग यही सोचते प्रतीत होते हैं कि मुक्ति दीर्घीकृत अनुशासन का फल है। स्पष्ट रूप से देखना स्वयं का अनुशासन है। अतः मुक्ति अनुशासन के अन्तिम छोर पर नहीं है, मुक्ति की समझ ही स्वयं का अनुशासन है। दोनों अवियोज्य रूप से इकट्ठे हैं : जब आप दोनों को अलग करते हैं तब द्वन्द्व है। द्वन्द्व को अभिभूत करने के लिए, संकल्प की क्रिया अस्तित्व में आती है व अधिक द्वन्द्व पैदा करती है। यह अन्तहीन कड़ी है। अतः मुक्ति तो प्रारंभ में है, अन्त में नहीं; प्रारम्भ ही अन्त है। इसके विषय में सीखना स्वयं का ही अनुशासन है। सीखना संवेदनशीलता की अपेक्षा करता है। अगर आप अपने परिवेश, सम्बन्धों के प्रति संवेदनशील नहीं हैं, आपके चारों तरफ जो कुछ हो

रहा है, रसोईघर या संसार में अगर आप इनके प्रति संवेदनशील नहीं हैं, तब चाहे आप स्वयं को कितना भी अनुशासित क्यों ना कर लें, आप अधिकाधिक असंवेदनशील एवं स्वयं-केन्द्रित होते जाते हैं और यह असंख्य समस्याएँ पैदा करता है। अपने व अपने से बाहर की दुनिया के प्रति संवेदनशील होना ही सीखना है, क्योंकि आप से बाहर की दुनिया भी तो आप ही हैं। अगर आप अपने लिए संवेदनशील हैं, तब आप दुनिया के प्रति संवेदनशील होंगे ही। यह संवेदनशीलता, प्रज्ञा का सर्वोच्च रूप है। यह संवेदनशीलता किसी विशेषज्ञ, डाक्टर या कलाकार की नहीं है। ऐसा विखण्डन संवेदनशीलता नहीं लाता।

अगर आप संवेदनशील नहीं हैं तो आप प्रेम कैसे कर सकते हैं? भावप्रवणता व भावुकता, संवेदनशीलता को नकारती है क्योंकि यह भयंकर रूप से क्रूर है; यह युद्धों के लिए जिम्मेवार है। अतः अनुशासन सारजेन्ट या सिपाही का कठोर व्यायाम नहीं हैं—चाहे यह परेड स्थल पर हो या स्वयं आपमें—जो संकल्प है। दिन भर व निद्रा में सीखते रहने का खुद का ही अनुशासन है जो नए निकले हुए पत्तों की तरह सौम्य और प्रकाश की तरह द्रुतगामी है। इसमें प्रेम है। प्रेम का अपना ही अनुशासन है, इसकी रमणीयता उस मानस से बच निकलती है जिसे ड्रिल द्वारा अभ्यस्त किया गया है, ढाला गया है, तथा यातनाएँ दी गई हैं। ऐसे अनुशासन के बिना मानस अधिक दूर तक नहीं जा सकता।

12
जो है

प्रश्नकर्त्ता :—दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, धर्म और राजनीति, सभी को मैंने काफी पढ़ा है; न्यूनाधिक इन सभी का सरोकार मानवीय सम्बन्धों से है। मैंने आप की किताबें भी पढ़ी हैं जिनका सरोकार विचार व संकल्पनाओं से है, और एक ढंग से मैं इन सबसे थक गया हूँ। मैंने शब्दों के सागर में गोते खाये हैं—जहाँ भी जाता हूँ वहाँ शब्द ही शब्द मिलते हैं—इन्हीं शब्दों से प्राप्त क्रियाएँ मुझे भेंट की जाती हैं, जैसे, परामर्श, प्रबोधन, आश्वासन, सिद्धान्त, विश्लेषण और उपचार। निसन्देह इनको कोई अलग भी रख सकता है—जैसा आपने सचमुच अपने जीवन में किया है—परंतु अधिकांश लोगों के लिए, जिन्होंने आपको सुना व पढ़ा है, यह सब मात्र शब्द हैं। कुछ ऐसे लोग भी हो सकते हैं जिनके लिए यह शब्दों से कुछ अधिक हो या जिनके लिए यह हकीकत भी हो पर मैं तो बाकी उन सब लोगों की बात कर रहा हूँ जो शब्द जाल में फँसे हैं। मैं शब्द एवं संकल्पना से परे जाना चाहूँगा और वस्तुओं से पूर्ण सम्बन्ध में जीना चाहूँगा। आखिरकर यही तो जीवन है। आपने कहा कि हमें अपना गुरु व

शिष्य खुद बनना है। बिना सिद्धान्तों, विश्वासों और आदर्शों के क्या मैं महानतम सरलता से जी सकता हूँ ? यह जानते हुए कि मैं दुनिया द्वारा वशीकृत हूँ, क्या मैं मुक्त रूप से जी सकता हूँ ? मुसीबत कभी आने से पहले दरवाजे पर दस्तक तो देती नहीं : इससे पहले की आप उनके प्रति सजग हों, प्रतिदिन के जीवन की चुनौतियाँ सामने आ जाती हैं। यह सब जानते हुए, इनमें से बहुत सी चीजों में फँसे हुए रहने पर तथा बहुत से छायाभासों का पीछा करते हुए, मैं अपने आपसे पूछता हूँ : मैं कैसे ठीक ढंग से, प्रेम, स्पष्टता और प्रयासहीन आनन्द से जी सकता हूँ ? मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ कि जीवन कैसे जीया जाये, बल्कि केवल **जीना** : यह शब्द 'कैसे' वास्तविक जीवन का निषेध करता है। जीवन की कुलीनता, कुलीनता का अभ्यास करना नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—यह सब व्यक्त करने के पश्चात् आप कहाँ पर हैं ? क्या आप वास्तव में आशीर्वाद व प्रेम से जीना चाहते हैं ? अगर आप यही चाहते हैं तो समस्या क्या है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मेरी चाहत तो मुझे कहीं नहीं ले जाती। वर्षों से मैं इस तरह जीना चाहता हूँ, पर मैं जी नहीं सकता।

कृष्णमूर्ति :—हालांकि आप आदर्श, विश्वास, निर्देश का निषेध करते हैं, तब भी आप सूक्ष्म रूप से तथा घुमा फिरा कर वही बात पूछ रहे हैं जो हर कोई पूछता है : यह तो "जो है" और "जो होना चाहिये" का द्वन्द्व है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं देखता हूँ कि "जो होना चाहिए" के बगैर भी, "जो है" वह कहीं अधिक भयंकर है। इसको देखने के लिए अपने आपको धोखा देना तो और भी बदतर होगा।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप "जो है" को देखते हैं तब आप ब्रह्माण्ड देखते हैं। "जो है" का निषेध द्वन्द्व की उत्पत्ति है। "जो है" में ब्रह्माण्ड का सौन्दर्य है; बिना प्रयत्न के "जो है" के साथ जीना सद्गुण है।

प्रश्नकर्त्ता :—"जो है" में अस्तव्यस्तता, हिंसा और मानवीय पथभ्रष्टता के प्रत्येक रूप का भी तो समावेश है। क्या इसके साथ रहने को ही आप सद्गुण कहते हैं ? क्या यह निर्दयता व उन्माद नहीं है ? आदर्शों को मात्र झटक भर देने में ही पराकाष्ठा नहीं है ? जीवन खुद अपेक्षा करता है कि मैं इसे सुन्दरता से

जीऊँ, आकाश में गरुड़ की तरह : पूर्ण सौन्दर्य से कुछ भी कम जीवन के चमत्कार को जीना हमें स्वीकार्य नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—तो फिर इसे जीओ न !

प्रश्नकर्त्ता :—ना तो मैं जी सकता हूँ और ना मैं जीता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप नहीं जी सकते तो अस्तव्यस्तता में रहो; पर इसके साथ संघर्ष मत करो। इसकी समस्त व्यथा को जानते हुए इसके साथ जीयो, यही है "जो है"। बिना द्वन्द्व के इसके साथ जीना हमें इससे मुक्त कर देता है।

प्रश्नकर्त्ता :—हमारा एक मात्र दोष आत्म-आलोचक होना है, क्या आप यह कह रहे हैं ?

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल भी नहीं। आप पर्याप्त मात्रा में आलोचक हैं ही नहीं। आप अपने स्वयं की आलोचना तक ही केवल पहुँच पाते हैं। उस इकाई की, जो आलोचना करती है, की भी तो आलोचना होनी चाहिये, उसकी भी तो जाँच पड़ताल होनी चाहिये। पर अगर परीक्षण तुलनात्मक है, मानदण्ड द्वारा है, तब तो यह मानदण्ड ही एक आदर्श हो जाता है। अगर कोई भी मानदण्ड नहीं है—दूसरे शब्दों में, अगर कोई मानस ही नहीं है जो हमेशा तुलना करता है, मापता है—तब आप "जो है" का प्रेक्षण कर सकते हैं। और तब "जो है" वह पहले जैसा नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—बिना मानदण्ड के मैं स्वयं का प्रेक्षण करता हूँ पर फिर भी अप्रिय हूँ।

कृष्णमूर्ति :—परीक्षण का अर्थ ही है मानदण्ड। केवल प्रेक्षण व अवलोकन हो; और कुछ भी नहीं—क्या ऐसा देखना सम्भव है ? अर्थात् प्रत्यक्षज्ञानकर्ता के बिना प्रत्यक्षज्ञान हो।

प्रश्नकर्त्ता :—आपका क्या तात्पर्य है ?

कृष्णमूर्ति :—केवल देखने की क्रिया वहाँ है। देखने की क्रिया की समीक्षा करना हस्तक्षेप है, देखने में विकृति पैदा करना है : यह देखना नहीं है बरन् देखने का मूल्यांकन है। यह दोनों उतने ही भिन्न हैं जितना खड़िया व पनीर। क्या आपका स्वयं का बिना विकृति के प्रत्यक्षज्ञान हो सकता है, आप जैसे हैं वैसे ही आपका अप्रतिबन्ध प्रत्यक्ष ज्ञान ?

प्रश्नकर्त्ता :—हाँ, हो सकता है।

कृष्णमूर्ति :—क्या इस प्रत्यक्ष ज्ञान में भद्दापन है ?

प्रश्नकर्त्ता :—प्रत्यक्षज्ञान में कोई भद्दापन नहीं होता, केवल भद्दापन होता है उसमें जो देखा गया है।

कृष्णमूर्ति :—आप जिस ढंग से देखते हैं, आप वैसा ही हैं। सदाचारिता मात्र देखने में है, जिसका अर्थ है ऐसी अवधानता जिसमें माप अथवा संकल्पना की विकृति नहीं होती। आप यह जाँच पड़ताल करने आये थे कि प्रेम सहित सुन्दर ढंग से कैसे जीया जा सकता है ? बिना विकृति के देखना ही प्रेम है, इस प्रत्यक्षज्ञान की क्रिया सद्गुण की क्रिया है। प्रत्यक्षज्ञान की यह स्पष्टता जीवन के हर क्षण कार्य करती है, यही आकाश में गरुड़ की तरह जीना है; यही सजीव सौन्दर्य व सप्राण प्रेम है।

●

13

तलाश करने वाला

प्रश्नकर्त्ता :—वह क्या है जिसकी मुझे तलाश है ? मुझे बिलकुल नहीं पता, परन्तु मुझमें अत्यधिक उत्कंठा है, आराम, भोग विलास और पूर्ति की तृप्ति के बजाए कोई और ही कुछ पाने की। मेरे पास वह सब वस्तुए हैं पर यह "कुछ" कहीं अधिक महत्व का है जो रिहा होने के लिए अथाह गहराईयों से चीख रहा है, मुझे कुछ बताने की कोशिश कर रहा है। मुझे यह अनुभूति तो बहुत वर्षों से है पर जब मैं इसकी जांच पड़ताल करता हूँ तो इसका स्पर्श करने में असमर्थ सा प्रतीत होता हूँ ! पर्वतों व अकाश से परे जाने की, 'कुछ' पाने की, उत्कंठा हमेशा बनी ही रहती है। शायद यह वस्तु ठीक मेरे सामने है, पर मैं ही इसे नहीं देख पाता। मुझे आप यह न बताएँ की इसे कैसे देखना है, क्योंकि मैंने आपके बहुत से लेख पढ़े हैं और मुझे मालूम है कि आपका क्या अर्थ है। बहुत अच्छी तरह जानते हुए कि मैं मुट्ठी से हवा बन्द नहीं कर सकता, मैं तो बस हाथ बढ़ा कर बहुत आसानी से इस वस्तु को ले लेना चाहता हूँ। ऐसा कहा गया है कि अगर आप ट्यूमर की बहुत सफाई

से शल्य-चिकित्सा करें तो आप इसे ज्यों का त्यों एक ही झटके में निकाल सकते हैं। इसी तरीके से एक गति में इस सम्पूर्ण पृथ्वी, स्वर्ग, आकाश, सागर, सभी को मैं पकड़ लेना चाहता हूँ, और तत्क्षण उस धन्यता पर पहुँचना चाहता हूँ। क्या यह कभी सम्भव है ? बिना नाव के और बिना पानी में उसे खेते हुए, मैं कैसे उस पार पहुँचू। मैं यह महसूस भी करता हूँ कि एक मात्र रास्ता यही है।

कृष्णमूर्ति :—हाँ, यही एक मात्र रास्ता है। बड़े ही विलक्षण व अनुत्तरदायी ढङ्ग से स्वयं को दूसरे किनारे पर पाना, फिर वहीं से जीना, क्रिया करना तथा वह सब कुछ करना जो आप प्रतिदिन के जीवन में करते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या यह केवल कुछ ही लोगों के लिए है ? क्या यह मेरे लिए भी है ? मैं क्या हूँ, यह मैं वास्तव में नहीं जानता ! मैंने मौन धारण किया, पढ़ा, जाँच पड़ताल की, और सोचता हूँ कि प्रज्ञा से मैंने स्वयं को अनुशासित भी किया; बहुत पहले ही मैंने मन्दिरों, मठों और पुजारियों को त्याग दिया। मैं एक प्रणाली से दूसरी प्रणाली को अपनाने से इन्कार करता हूँ : यह सब कितना व्यर्थ है। अतः आप देख सकते हैं कि मैं आप के पास पूर्ण सहजता से आया हूँ।

कृष्णमूर्ति :—मुझे आश्चर्य है अगर आप वास्तव में ही उतने सहज हैं जितना आप सोचते हैं। कितनी गहराई, प्रेम और सुन्दरता से आप यह प्रश्न पूछ रहे हैं ? क्या आप का मानस और हृदय दोनों इसे ग्रहण कर सकता है ? किसी वस्तु की हल्की से हल्की मरमराहट जो अप्रत्याशित रूप से होती है, क्या आप उसके प्रति संवेदनशील है ?

प्रश्नकर्त्ता :—अगर यह वास्तव में ही उतना सूक्ष्म है तो यह कितना सच और वास्तविक है। इतनी सूक्ष्मता का प्रज्ञापन प्रायः क्षणिक व महत्त्वहीन होता है।

कृष्णमूर्ति :—क्या वह क्षणिक और महत्त्वहीन है ? क्या हर चीज का श्याम-पट्ट पर लिखा जाना जरूरी है ? महाशय, कृपया, हमें पता लगाना होगा कि क्या हमारा मानस व हृदय, केवल शब्द द्वारा नहीं पर सचमुच ही, विशालता को ग्रहण करने के योग्य है।

प्रश्नकर्त्ता :—सचमुच मैं नहीं जानता और यही मेरी समस्या है। राष्ट्रीयता, संगठित धर्म और विश्वासों की स्पष्ट मूर्खताओं और उनकी नगण्यताओं के

अन्तहीन मार्ग को एक तरफ रखते हुए लगभग सभी चीजें मैंने काफी समझदारी से की हैं। सोचता हूँ मेरे पास करुणा है, सोचता हूँ मेरा मानस जीवन की सुक्ष्मताओं को समझ सकता है, पर निसंदेह यह तो काफी नहीं है। और किस चीज की आवश्यकता है ? मुझे क्या करना है या नहीं करना है ?

कृष्णमूर्ति :—कुछ करने की बजाए कुछ ना करना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्या मानस निष्क्रिय हो सकता है और फिर भी अत्यधिक क्रियाशील ? प्रेम, विचार की क्रिया नहीं है, और नाही अच्छे आचरण या सामाजिक सदाचारिता की क्रिया है। आप इसे पाल-पोस नहीं सकते, आप प्रेम के लिए कुछ नहीं कर सकते।

प्रश्नकर्त्ता :—निष्क्रियता, क्रिया का सर्वोच्च रूप है—इसका अर्थ यह नहीं है कि कुछ नहीं करना—जब आप ऐसा कहते हैं, आपका क्या अर्थ है उसे मैं समझता हूँ। पर मैं इसे हृदय से ग्रहण नहीं कर सकता। क्या निष्क्रियता मुझे तभी भली प्रतीत होती है क्योंकि मेरा हृदय रिक्त है, अनेक क्रियाओं से थक चुका हुआ है ? नहीं, ऐसा नहीं है। मैं अपनी मूल अनुभूति पर वापस आता हूँ कि यह प्रेम है और मैं जानता हूँ कि मात्र प्रेम ही है। पर यह कहने के बाद भी मेरा हाथ खाली है।

कृष्णमूर्ति :—क्या इसका अर्थ यह है कि अब आप कुछ और तलाश नहीं कर रहे हैं। गुप्त रूप से स्वयं को अब नहीं कहते कि दूरतम पहाड़ी से परे भी कुछ है, मुझे अवश्य वहाँ पहुँचना चाहिए, प्राप्त करना चाहिए।

प्रश्नकर्त्ता :—आप का मतलब है कि मैं इस अनुभूति को छोड़ दूँ जो इतने लम्बे समय से मुझे है कि पहाड़ियों से परे भी कुछ है ?

कृष्णमूर्ति :—प्रश्न कुछ छोड़ देने का नहीं है। जैसा हमने अभी कहा, केवल यही दो वस्तुएं हैं : एक तो है प्रेम और दूसरा विचार से रिक्त मानस। अगर आपने वास्तव में ही समाप्त कर दिया है, अगर आपने सच में दरवाजे बन्द कर दिए हैं इन सभी मूर्खताओं के लिए जिन्हें मनुष्य कुछ खोजने की तलाश में बटोरता है, अगर यह सब कुछ आपने खत्म कर दिया है, तब, क्या प्रेम और रिक्त मानस मात्र दो शब्द हैं जो दूसरी संकल्पनाओं से किसी भी तरह भिन्न नहीं ?

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे गहरी अनुभूति है कि यह नहीं है, पर मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ। अतः मैं फिर से पूछता हूँ, मुझे क्या करना है ?

कृष्णमूर्ति :—हमने अभी प्रेम और मानस के विषय में जो कहा, क्या आप जानते हैं, उससे संवाद करने का क्या अर्थ है ?

प्रश्नकर्त्ता :—हाँ, मैं ऐसा सोचता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप समझते हैं तो मुझे आश्चर्य है। अगर इन दो वस्तुओ से संवाद है तब तो कहने को कुछ भी नहीं है। अगर इन दो वस्तुओं से संवाद है तो सभी क्रिया यहाँ से होगी।

प्रश्नकर्त्ता :—मुसीवत यह है कि मैं अभी भी सोचता हूँ कि "कुछ" को खोजना है, जो बाकी सबको उचित स्थान पर और उचित क्रम से रख देगा।

कृष्णमूर्ति :—इन दो वस्तुओं के विना और आगे जाने की कोई सम्भावना नहीं हैं। और हो सकता है कि गमन ही ना हो।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या मैं हर समय इसका सहभागी हो सकता हूँ। जब आप और मैं एक साथ होते हैं तब तो एक तरह से वहाँ सुसंवाद रहता है। पर क्या मैं इसे कायम रख सकता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—इसे कायम रखने की इच्छा ही तो शोर है और इसीलिए इसका खो जाना।

●

14

संगठन

प्रश्नकर्त्ता :—बहुत से धार्मिक, व्यापारिक व राजनीतिक संगठनों का मैं सदस्य रहा हूँ। यह तो स्पष्ट है कि हमें कुछ संगठन तो चाहिए वरना जीवन आगे नहीं बढ़ेगा। आपको सुनने के पश्चात् मुझे आश्चर्य होता है कि मुक्ति और संगठन में क्या कोई सम्बन्ध है। मुक्ति कहाँ आरम्भ होती है तथा संगठन कहाँ समाप्त होता है ? धार्मिक संगठन तथा मोक्ष या मुक्ति के बीच क्या कोई सम्बन्ध है ?

कृष्णमूर्ति :—मानव होने के नाते तथा इस पेचिदा समाज में रहते हुए, संचार, यातायात, भोजन, कपड़े, आश्रय तथा इकट्ठे रहने के सभी क्रिया-कलापों के लिए—चाहे यह रहना शहर में हो या देहात में—संगठनों का होना तो आवश्यक है। इन सबका संगठन कुशलता व मानवोचित ढंग से करना चाहिए, ना केवल कुछ एक के लाभ लिए वरन बिना राष्ट्रीयता, जातीयता या वर्ग के विभाजन के अनुसार, सबके लिए। खुशी से जीने के लिए भौतिक रूप से ये संगठन सन्तुलित, विवेकी व कार्य कुशल होने चाहिए। क्योंकि जहाँ

विभाजन है वहाँ अव्यवस्था है। इतनी समृद्धि है फिर भी लाखों भूखे रह जाते हैं। युद्ध, द्वन्द्व व हर प्रकार की पाश्विकता है। विश्वास व धर्मों का भी संगठन है। यह फिर से अलगाव व युद्ध पैदा करता है। जिस नैतिकता का मनुष्य ने अनुसरण किया है वही अव्यवस्था व अन्धव्यवस्था की ओर ले जाती हैं। संसार की यही वास्तविक स्थिति है। जब आप पूछते हैं संगठन व मुक्ति में क्या सम्बन्ध है, तो क्या आप मुक्ति को प्रतिदिन के जीवन से अलग नहीं कर रहे हैं? जब आप इसे ऐसे अलग करते हैं—जैसे जीवन से बिलकुल भिन्न कोई चीज—तो क्या यह स्वयं में अव्यवस्था व द्वन्द्व नहीं है? अतः प्रश्न है : क्या मुक्ति में जीना और इसी मुक्ति में जीवन संगठित करना सम्भव है?

प्रश्नकर्त्ता :—तब तो कोई समस्या ही नहीं होगी। पर जीवन के संगठन को आपने खुद तो बनाया नहीं है, इसे तो अन्य व्यक्ति आपके लिए बनाते हैं—सरकार या अन्य व्यक्ति आपको युद्ध में झोंक देते हैं या आपकी नौकरी तय करते हैं। अतः स्वतन्त्रता से आप खुद को संगठित नहीं कर सकते। मेरे प्रश्न का समस्त अभिप्राय यह है कि, सरकार, समाज व नैतिकता द्वारा हम पर थोपे गये संगठन मुक्ति नहीं है। अगर हम इसे अस्वीकार करें तो हम अपने आपको क्रांति व समाज सुधार के बीचोबीच पाते हैं, जो पुराने चक्र को फिर से शुरू करने का एक नया ढंग है। आन्तरिक या बाह्य रूप से हम संगठन में ही जन्म लेते हैं, जो मुक्ति को सीमित कर देता है। या तो हम झुक जाते हैं या विद्रोह करते हैं। हम इसी जाल में फँसे हुए हैं। अतः मुक्ति में से कुछ भी संगठित करने का प्रश्न ही नहीं होता।

कृष्णमूर्ति :—इस समाज का, इस अव्यवस्था का, इन दीवारों का, सृजन हमने ही किया है, पूर्ण रूप से हम इसे नहीं समझते। हममें से प्रत्येक इसके लिये उत्तरदायी हैं। समाज वही है जो हम हैं। समाज हमसे भिन्न नहीं है। अगर हम द्वन्द्व में हैं या कंजूस हैं, ईर्ष्यालु या भयभीत हैं, तो हम ऐसा ही समाज पैदा करेंगे।

प्रश्नकर्त्ता :—व्यक्ति और समाज में फर्क है। मैं शाकाहारी हूँ पर समाज पशुवध करता है। मैं युद्ध में नहीं जाना चाहता पर समाज मुझे मजबूर करता है। क्या आप मुझे बता रहे हैं कि युद्ध मेरा कार्य है?

कृष्णमूर्ति :—जी हाँ। यह आपका उत्तरदायित्व है। अपनी राष्ट्रीयता, लालच, डाह और घृणा से इसे आप ही ने उत्पन्न किया है। आप युद्ध के लिए तब तक जिम्मेवार हैं जब तक आपके हृदय में यह सब कुछ है, जब तक आपका सरोकार राष्ट्रीयता, धर्ममत या जाति से है। जो इन सब से मुक्त है वही यह कह सकते हैं कि उन्होंने समाज का सृजन नहीं किया है। अतः हमारा उत्तरदायित्व हो जाता है कि हम देखें कि हम परिवर्तित हों तथा बिना हिंसा और रक्तपात के दूसरों को परिवर्तित होने में सहायता दें।

प्रश्नकर्त्ता :—इसका मतलब है : संगठित धर्म।

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल नहीं। संगठित धर्म तो विश्वास व सत्ता पर आधारित रहता है।

प्रश्नकर्त्ता :—हमारा मूल प्रश्न था मुक्ति और संगठन के बीच सम्बन्ध परन्तु यह हमें ले कहाँ आया? संगठन हमेशा आरोपित होता है या फिर परिवेश से उत्तराधिकार में मिलता है और मुक्ति सदैव भीतर से होती है और यह दोनों टकराते हैं।

कृष्णमूर्ति :—आप आरम्भ कहाँ से करने जा रहे हैं? आपको मुक्ति से आरंभ करना चाहिए। जहाँ मुक्ति है वहाँ प्रेम है। यह मुक्ति और प्रेम आपको बताएँगे कि कब सहयोग करें या कब सहयोग ना करें। यह क्रिया चयन की नहीं है क्योंकि चयन तो अस्तव्यस्तता का परिणाम है। प्रेम और मुक्ति ही प्रज्ञा है। हमारा सरोकार संगठन और मुक्ति के विभाजन से नहीं है, वरन् क्या हम इस दुनिया में बिना विभाजन के रह सकते हैं। यह विभाजन है, ना कि संगठन, जो मुक्ति और प्रेम को नकारता है। जब संगठन विभाजित करते हैं तो वह हमें युद्ध की ओर ले जाते हैं। किसी भी रूप में विश्वास या आदर्श—चाहे कितने भी कुलीन या प्रभावशाली क्यों ना हो—विभाजन पैदा करते हैं। राष्ट्रीयता या सत्ता-समूह की तरह संगठित धर्म भी विभाजन पैदा करते हैं। अतः रखिये उन चीजों से आप सरोकार जो विभाजित करती हैं; वो वस्तुएँ जो मानव-मानव में विभाजन लाते हैं; चाहे व्यक्ति हो या समूह। परिवार, गिरिजा, मन्दिर और राज्य, सभी विभाजन पैदा करते हैं। महत्त्वपूर्ण तो है

यहाँ विचार की गति जो विभाजित करती है। विचार ही विभाजक है, अतः संकल्पना या आदर्शवाद पर आधारित प्रत्येक क्रिया विभाजन है। विचार ही वह है जो पूर्वाग्रह, सम्मति एवं निर्णय को पालता है। मनुष्य, जो स्वयं में विभाजित है, इसी विभाजन से मुक्ति की तलाश करता है। इसको पाने में असमर्थ होने से वह विभिन्न विभाजनों को समन्वित करने की आशा करता है। और यह सम्भव नहीं है। आप दो पूर्वाग्रहों को समन्वित नहीं कर सकते। इस दुनिया में मुक्ति से जीने का अर्थ है विभाजन के प्रत्येक रूप को दूर करते हुए, प्रेम से जीना। जब मुक्ति और प्रेम है, तब प्रज्ञा सहयोग से कार्य करेगी; वह यह भी जानेगी कि कब सहयोग नहीं करना है।

15

प्रेम और काम

प्रश्नकर्त्ता :—म शादीशुदा हूँ और मेरे कई बच्चे भी हैं। भोग-विलास की तलाश में मैंने अपव्ययी जीवन व्यतीत किया है, पर काफी सभ्य भी रहा, और मैंने वित्तीय सफलता भी प्राप्त की है। अब मैं अधेड़ हो चला हूँ और अब अपने परिवार के लिए, और जिस ढंग से दुनिया चल रही है उसके प्रति, अधिक चिन्तित महसूस करता हूँ। मैं पाशविकता और उग्र मनोभाव प्रवण नहीं हूँ। क्षमाशीलता व करुणा, यह दोनों ही जीवन में सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, यह मैंने सर्वदा से माना है। इनके बिना व्यक्ति अमानवीय बन जाता है। अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं पूछना चाहूँगा कि प्रेम क्या है। क्या वास्तव में ऐसी कोई चीज है भी ? करुणा इसका हिस्सा होना चाहिए पर मुझे हमेशा महसूस होता है कि प्रेम तो इससे कहीं अधिक विस्तृत है। अगर हम इसका एक साथ अन्वेषण कर सकें तो इससे पहले की काफी देर हो जाए, शायद मैं अपने जीवन को सार्थक बना पाऊँ। मै यही पूछने आया हूँ कि—प्रेम क्या है ?

कृष्णमूर्ति :—इससे पहले की हम इसकी जाँच शुरू करें, यह स्पष्ट होना चाहिए कि शब्द कोई वस्तु नहीं है, वर्णन कभी वर्णित नहीं है, क्योंकि व्याख्या की कोई भी मात्रा—चाहे कितनी भी स्पष्ट और सूक्ष्म क्यों न हो—हृदय को प्रेम की असीमता के लिए नही खोलेगी। यह समझ लेना चाहिए कि शब्दों से नहीं चिपके रहना है। शब्द तो संवाद के लिए केवल उपयोगी होते हैं, पर जो चीज वास्तव में ही अशाब्दिक है, उसके विषय में बात करने के लिए हमें अपने बीच सहभागिता स्थापित करनी चाहिए ताकि हम दोनों एक ही वस्तु को, एक ही समय पर, अपने हृदय और मानस की पूर्णता से, महसूस करें और समझें। अन्यथा हम शब्दों से ही खेलेंगे। कैसे कोई ऐसी वस्तु तक पहुँचे जो सचमुच ही बहुत सुक्ष्म है तथा मानस द्वारा स्पर्श नहीं की जा सकती? हमको यहाँ हिचकिचाते हुए आगे बढ़ना है। ऐसा करते हैं कि जो यह नही है उसे पहले देखें, तब शायद जो यह है उसे हम देख पायेंगे। नकारने से शायद हम सकारात्मक पर आ जाएँ, पर केवल सकारात्मक का पीछा करना हमें मान्यताओं और निष्कर्षों की ही ओर ले जायेगा, जो विभाजन लाते हैं। आप पूछ रहे हैं कि प्रेम क्या है? हम कह रहे हैं कि अगर हम यह जाने कि यह क्या नहीं है, तब शायद हम इसको पायेंगे। कोई भी वस्तु जो विभाजन व अलगाव लाती है वह प्रेम नही है, क्योंकि इसमें पाशविकता, द्वन्द्व और संघर्ष है।

प्रश्नकर्ता :—विभाजन और अलगाव, जो संघर्ष उत्पन्न करते हैं, से आपका क्या मतलब है?

कृष्णमूर्ति :—विचार अपने स्वभाव से ही विभाजक है। विचार ही सुख की तलाश करता है और उसे थामे रखता है। विचार ही आकांक्षा को पालता है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप आकांक्षा की थोड़ी और अधिक जाँच पड़ताल करेंगे?

कृष्णमूर्ति :—हम किसी घर को देखते हैं, फिर इन्द्रियजनित ज्ञान होता है कि यह मनमोहक है, फिर इसे अपना बना लेने को व इससे सुख पाने की आकांक्षा पैदा होती है; फिर हम इसे प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसी से केन्द्र बनता है और यह केन्द्र ही विभाजन है। यह केन्द्र ही "अहम्" की भावना है जो विभाजन का कारण है क्योंकि "अहम्" की भावना ही अलगाव की

भावना है। लोगों ने इसे "अहम्" तथा अन्य कई नामों से पुकारा है—"उच्च आत्मन्" अथवा उसका प्रतिपक्षी "निम्न आत्मन्"—पर इस विषय में इतना पेचिदा होने की कोई बात नहीं है : यह बहुत सरल है। जहाँ केन्द्र होगा—जो "अहम्" की अनुभूति है, जो अपनी क्रिया में स्वयं को पृथक् करता है—वहीं पर विभाजन व प्रतिरोध होगा। यह सब विचार की ही प्रक्रिया है। अतः जब आप पूछते हैं कि प्रेम क्या है तो उत्तर है कि यह उस केन्द्र का नहीं है। प्रेम ना तो सुख-दुख है, ना ही घृणा है, और ना ही किसी रूप की हिंसा है।

प्रश्नकर्त्ता :—जिस प्रेम के बारे में आप कह रहे हैं उसमें यौन-क्रिया नहीं हो सकती क्योंकि वहाँ आकांक्षा नहीं हो सकती ?

कृष्णमूर्ति :—कृपया किसी निष्कर्ष पर आप न पहुँचे। हम अभी केवल जाँच पड़ताल और अन्वेषण भर कर रहे हैं। कोई भी निष्कर्ष या मान्यता आगे की छानबीन को अवरूद्ध कर देती है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें विचार की ऊर्जा पर भी दृष्टिपात करना होगा। विचार, जैसा हमने कहा, उस वस्तु के बारे में सोंचते हुए, जो सुखद रही है, सुख को संपोषित करता है तथा इस तरह चित्र और प्रतिमा का संवर्धन करता है। विचार सुख को उत्पन्न करता है। यौन-क्रिया के बारे में सोचना तो कामुकता बन जाता है जो यौन-क्रिया से सर्वथा भिन्न है। अधिकतर लोग कामुकता के आवेश से ही संबद्ध रहते हैं। काम से पहले या बाद की ललक सम्भोगेच्छा है। यह ललक ही विचार है। और विचार प्रेम नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या इस विचार की इच्छा के बिना भी काम-क्रिया हो सकती है ?

कृष्णमूर्ति :—आप को स्वयं पता लगाना होगा। काम हमारे जीवन में असाधारणतः महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करता है क्योंकि शायद यही हमारा गहन और प्रत्यक्ष अनुभव है। बौद्धिक व भावरूप से हम अनुनय, अनुसरण, अनुगमन और आज्ञा पालन करते हैं। काम-क्रिया को छोड़ कर हमारे प्रत्येक सम्बन्धों में दुःख और संघर्ष हैं। यह क्रिया इतनी भिन्न और सुन्दर होती है कि हम इसके आदी बन जाते हैं और वही फिर एक बन्धन बन जाता है।

बन्धन ही इसके सातत्य की माँग है—यह केन्द्र की क्रिया है जो विभाजक है। बौद्धिक रूप से परिवार, समुदाय, सामाजिक नैतिकता व धार्मिक आदेशों द्वारा आप इतने घिर जाते हैं कि केवल एक ही सम्बन्ध शेष रहता है जिसमें स्वतन्त्रता और प्रगाढ़ता है। इसीलिए हम इस को इतना महत्त्व देते हैं। अगर चारों तरफ स्वतन्त्रता होती, तब यह ललक कोई समस्या नहीं बनती। हम इसको समस्या बना देते हैं क्योंकि हमें यह पर्याप्त नहीं मिलता, या इसको पा लेने की वजह से हम अपराधी महसूस करते हैं या इसको पा लेने के लिए हम समाज के नियमों को तोड़ते हैं। यह पुराना समाज ही है जो नए समाज को अनुज्ञात्मक कहता है, क्योंकि नए समाज के लिए काम ही जीवन का एक हिस्सा है। अनुकरण के बन्धन, सत्ता, अनुरूपता और धार्मिक नुस्खों से मानस को आजाद करवाने में काम की अपनी ही जगह है, पर यह सर्वउपभोगी नहीं होगा। इससे आप देख सकते हैं कि प्रेम के लिए मुक्ति आवश्यक है—विद्रोह करने की मुक्ति नहीं, जो कुछ आप करना चाहें वह करने की मुक्ति नहीं, अपनी ललक में खुले आम या गुप्त रूप से प्रवृत रहने की मुक्ति नहीं—पर वह मुक्ति जो केन्द्र के स्वभाव व समस्त संरचना की समझ से आती है। वही मुक्ति प्रेम हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—इसका मतलब है कि मुक्ति लाइसेंस नहीं है?

कृष्णमूर्ति :—नहीं, लाइसेंस तो बन्धन है। घृणा न होना प्रेम नहीं है, इसी तरह घृणा, ईर्ष्या, महत्त्वकांक्षा, भय और असफलता सहित प्रतियोगिता की प्रवृति का न होना भी प्रेम नहीं है। यह प्रेम न तो भगवान का है और ना ही इन्सान का है—जो फिर से विभाजन है। प्रेम कोई एक का या अनेक का भी नहीं है। जब प्रेम है तो यह व्यक्तिक भी है और अव्यक्तिक भी, उद्देश्य भी है और निरुद्देश्य भी। यह तो फूल की सुगन्ध की तरह है; इसकी खुशबू एक या अनेक सभी ले सकते हैं। जो बात महत्त्व की है वह है सुगन्ध, न कि वह सम्बन्धित किससे है।

प्रश्नकर्त्ता :—इस सबमें क्षमाशीलता का कहाँ स्थान है?

कृष्णमूर्ति :—जब प्रेम है तब क्षमाशीलता नहीं हो सकती। क्षमाशीलता तभी आती है जब आपने विद्वेष का संचय किया हो: क्षमाशीलता तो

मनोमालिन्य है। जब कोई ज़ख्म ही नहीं है तो उपचार की क्या आवश्यकता ? असावधानी ही रोष और नफ़रत उत्पन्न करती है। आप इनके प्रति सचेत हो जाते हैं तब क्षमा करते हैं। क्षमाशीलता विभाजन को बढ़ावा देती है। जब आपको यह चेतना है कि आप क्षमा कर रहे हैं तो आप पाप करते हैं। जब आप को चेतना है कि आप सहिष्णु हैं तो इसका मतलब है कि आप असहिष्णु हैं। जब आप जान-बूझ कर प्रेम करते हैं तो आप हिंसक है। जब तक एक प्रेक्षक है जो कहता है "मैं हूँ" या "मैं नहीं हूँ" तब तक प्रेम नहीं हो सकता।

प्रश्नकर्त्ता :—भय का प्रेम में क्या स्थान है ?

कृष्णमूर्ति :—आप ऐसा प्रश्न कैसे पूछ सकते हैं ? जहाँ एक है वहाँ अन्य नहीं है। जब प्रेम है तब आप जो चाहे कर सकते हैं।

●

16

प्रत्यक्षज्ञान

प्रश्नकर्त्ता :—आप प्रत्यक्षज्ञान के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग करते हैं। कभी आप 'प्रत्यक्षज्ञान' कहते हैं—तो कभी 'प्रेक्षण', 'अवलोकन', 'समझ', 'सजग होना' 'सचेत होना' कहते हैं। मेरे ख्याल से आप इनशब्दों का प्रयोग एक ही वस्तु के लिए करते हैं : स्पष्टता, सम्पूर्णता व समग्रता से देखना ? क्या आप किसी वस्तु को पूर्णता से देख सकते हैं ? हम भौतिक या तकनीकी वस्तुओं की बात नहीं कर रहे हैं, पर मनोवैज्ञानिक रूप से क्या आप किसी वस्तु को देख या समझ सकते हैं ? क्या कभी आप किसी वस्तु को देख या समझ सकते हैं ? क्या कभी कुछ प्राच्छादित नहीं होता है जिससे आप केवल आंशिक रूप ही देख पाते हों ? अगर इस विषय में आप विस्तार में जायें तो मैं आपका अनुगृहीत होउंगा। मैं महसूस करता हूं कि यह महत्वपूर्ण प्रश्न है, क्योंकि शायद यह जीवन की ढेर सारी चीजों का कोई सुराग दे सके। अगर मैं स्वयं को पूर्ण रूप से समझ पाऊं, तब शायद मेरी समस्याओं का

फूल निकल आए और मैं प्रमुदित महामानव बन जाऊँ। समस्याओं व व्यथा वाले अपने छोटे से संसार से परे जाने की सम्भावना की जब मैं बात करता हूँ तो उत्तेजित महसूस करता हूँ। प्रत्यक्षज्ञान और अवलोकन से आपका क्या अर्थ है? क्या कोई स्वयं को सम्पूर्णता से देख सकता है?

कृष्णमूर्ति :—हम वस्तुओं को सदैव आंशिक रूप से देखते हैं। प्रथम, क्योंकि हम लापरवाह हैं, दूसरे, हम वस्तुओं को पूर्वाग्रह, शाब्दिक व मनोवैज्ञानिक प्रतिमाओं द्वारा देखते हैं। हम किसी भी चीज को सम्पूर्णता से नहीं देख सकते। यहाँ तक की प्रकृति को भी वस्तुनिष्ठ दृष्टि से देखना काफी दुष्कर है। बिना किसी प्रतिमा या वानस्पतिक ज्ञान के एक पुष्प को देखना—केवल प्रेक्षण करना—काफी कठिन हो जाता है क्योंकि हमारा मानस भटक रहा है, वगैर रुचि के। और अगर इसकी रुचि है भी तो यह निश्चित् रसास्वादन से फूल को देखता है और एक शाब्दिक वर्णन से, जो प्रेक्षक को ऐसी अनुभूति देता है कि उसने वास्तव में फूल को देखा है। जानबूझ कर देखना कोई देखना नहीं है। अतः सचमुच हम फूल को कभी नहीं देख सकते। हम इसे प्रतिमा के माध्यम से देखते हैं। जो वस्तु हमें गहराई से नहीं छूती शायद उसे देखना काफी आसान है; जैसे हम कोई सिनेमा देखने जाते हैं और कोई दृश्य हमें कुछ क्षण के लिए विचलित कर देता है परन्तु हम जल्द ही भूल जाते हैं। लेकिन बिना प्रतिमा के—जो अतीत है, हमारा संचित अनुभव व ज्ञान है—स्वयं का प्रेक्षण यदा-कदा ही होता है। हमारी अपने बारे में प्रतिमा है। हम सोचते हैं कि हमें यह होना चाहिये और वह नहीं होना चाहिए। हमने अपने विषय में पहले ही एक धारणा बना ली है, और इसी के माध्यम से हम अपने आपको देखते हैं। हम सोचते हैं कि हम कुलीन या अधम हैं और जो वास्तव में हम हैं उसका देखना या तो हमें उदास बना देता है या भयभीत। अतः हम अपने आपको नहीं देख सकते : और जब हम देखते भी हैं तो यह आंशिक प्रेक्षण है और जो आंशिक या अपूर्ण है वह समझ नहीं लाता। जब हम स्वयं को पूर्णता से देखते हैं तभी जो हम देखते हैं उससे मुक्ति की सम्भावना है। हमारा प्रत्यक्षज्ञान केवल आँखों या इन्द्रियों से नहीं होता वरन् मानस से भी होता है और मानस अत्यधिक संस्कारबद्ध है। बौद्धिक प्रत्यक्षज्ञान हमें सन्तुष्ट करता सा प्रतीत होता है और हम सोचते हैं कि हम समझ रहे हैं। खण्डित समझ सबसे ज्यादा खतरनाक व विनाशकारी वस्तु है। और यही सब दुनिया में हो रहा है। राजनीतिज्ञ, पुजारी, व्यापारी, तकनीशियन, यहाँ तक कि कलाकार

भी—आंशिक रूप से ही देखते हैं। इसीलिए ये सचमुच में बहुत ही विनाशकारी लोग हैं। चूँकि यह लोग दुनिया में महान भूमिका निभाते हैं, अतः इनका प्रत्यक्षज्ञान स्वीकृत प्रतिमान बन जाता है और मनुष्य इसमें फँस जाता है। हममें से प्रत्येक एक ही समय में पुजारी भी है, राजनीतिज्ञ, व्यापारी, कलाकार तथा बहुत सी दूसरी खण्डित इकाई भी है। इन परस्पर विरोधी धारणाओं और निर्णयों की हर व्यक्ति एक रणभूमि है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं इसे स्पष्टतः देख रहा हूँ। निसन्देह अवलोकन शब्द का मैं बौद्धिक रूप से प्रयोग कर रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप इसे पूर्णतः देखते हैं—बौद्धिक रूप से, शाब्दिक रूप से या भावुकता से नहीं—तब आप काफी भिन्न प्रकार का जीवन जीएँगे और क्रिया करेंगे। जब आप अपने आपको चट्टान की कगार पर पाते हैं या आपका खतरनाक जानवर से सामना होता है, तब कोई आंशिक समझ या आंशिक क्रिया नहीं है, तब सम्पूर्ण क्रिया होती है।

प्रश्नकर्त्ता :—परन्तु जीवन के प्रत्येक क्षण हमारा सामना ऐसी खतरनाक घटनाओं से थोड़े होता है।

कृष्णमूर्ति :—इन संकटों से तो हर क्षण हमारा सामना होता है। मात्र आप इनके अभ्यस्त हो जाते हैं, या इनके प्रति उदासीन हो जाते हैं या इन समस्याओं का समाधान दूसरों पर छोड़ देते हैं और यह दूसरे व्यक्ति भी समान रूप से विवेकशून्य और एकतरफा हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं इन संकटों के प्रति हर समय कैसे सजग रह सकता हूँ, और आप क्यों कहते हैं कि हर समय संकट है?

कृष्णमूर्ति :—प्रत्येक क्षण में समग्र जीवन है। प्रत्येक क्षण चुनौती है। इस चुनौती का अपर्याप्त रूप से मुकाबला करना ही जीवन का संकट है। हम नहीं देखना चाहते कि यह संकट है और इसीलिये उससे पलायन हेतु हम अपनी आखें बन्द कर लेते हैं। हम और अधिक अन्धे बन जाते हैं और संकट बढ़ता जाता है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं पूर्णता से कैसे देखूँ? मैंने यह समझना आरम्भ कर दिया है कि मैं आंशिक रूप से देखता हूँ। सम्पूर्ण प्रत्यक्षज्ञान से स्वयं को और

दुनिया के देखने के महत्त्व को भी समझना आरम्भ कर दिया है, पर मेरे अन्दर इतना कुछ हो रहा है कि यह निर्णय कर पाना बहुत कठिन है कि मैं क्या देखूं। मेरा मानस अधीर और चंचल बन्दरों से भरे हुए एक बड़े से पिन्जरे के समान है।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप एक गति को पूर्णतः देखते हैं तो उसी पूर्णता में प्रत्येक अन्य गति अन्तर्विष्ट है। अगर आप एक समस्या को सम्पूर्णतः समझते हैं, तब आप सभी मानवीय समस्याएं समझते हैं, क्योंकि वह परस्पर सम्बन्धित हैं। अतः प्रश्न है : क्या आप एक समस्या को इतनी सम्पूर्णता से समझ सकते हैं, प्रत्यक्षज्ञान या अवलोकन कर सकते हैं कि इसी समय में आप ने बाकी सब समझ लिया है ? जब समस्या घटित होती है तभी उसे देखना चाहिए, न कि पहले या बाद में एक स्मृति या उदाहरण के रूप में। क्रोध और भय की इस समय समीक्षा करने का कोई फायदा नहीं है; जब इनका उद्भव होता है तभी प्रेक्षण होना चाहिए। प्रत्यक्षज्ञान तो तात्क्षणिक है : या तो आप किसी वस्तु को तत्क्षण समझ लेते हैं या फिर नहीं। अवलोकन, समझ, श्रवण, ये तात्क्षणिक हैं। सुनने और देखने में अवधि है।

प्रश्नकर्त्ता :—मेरी समस्या तो अब भी ज्यों कि त्यों हैं। यह तो कालावधि में है। आप कह रहे हैं कि अवलोकन तो तात्क्षणिक है और इसीलिए समय से बाहर है। ईर्ष्या या ऐसी ही कोइ आदत या समस्या को कौन सी चीज अवधि प्रदान करती है ?

कृष्णमूर्ति :—क्या समास्याएं इसीलिए नहीं बनी रहती हैं, क्योंकि आप इन्हें संवेदनशीलता, चुनाव रहित सजगता या प्रज्ञा से नहीं देखते ? आप ने केवल आंशिक रूप से देखा है, इसीलिए अनुमति दे दी है इन्हें कायम रहने की। इसके अतिरिक्त इससे छुटकारा पाने की चाह, अवधि की एक अन्य समस्या है। किसी भी वस्तु से निपटने की असमर्थता उसे अवधि वाली समस्या बना देती है और उसे जीवन प्रदान करती हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं तत्क्षण समग्र वस्तु को कैसे देखूं ? कैसे मैं इसे समझूं कि यह कभी लौट कर न आए ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आप "कभी" शब्द पर बल दे रहे हैं या "समझ" शब्द पर ? अगर आप "कभी" शब्द पर बल दे रहे हैं तो इसका मतलब है कि आप स्थाई रूप से इससे पलायन की इच्छा रखते हैं, इसका यह भी अर्थ है कि एक दूसरी समस्या का सृजन। अतः हमारा एक ही प्रश्न है : समस्या को कैसे इतनी सम्पूर्णता से देखा जाए कि इससे मुक्ति हो जाए। मौन में ही प्रत्यक्षज्ञान हो सकता हैं। वकवादी मानस प्रत्यक्षज्ञान नहीं कर सकता। हो सकता है कि यह बकवाद या प्रलाप इससे छुटकारा पाने के लिए या इसे कम करने के लिए या पलायन के लिए, दमन या अनुकल्प ढूंढने के लिए भी हो सकता है; पर यह केवल शान्त मानस ही है जो अवलोकन करता है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं शान्त मानस कैसे प्राप्त करूं ?

कृष्णमूर्ति :—आप यह सत्यता नहीं देख रहे हैं कि केवल शांत मानस ही है, जो देख सकता है। शांत मानस कैसे मिले यह प्रश्न ही नहीं उठता। यह सच है कि मानस को शांत होना चाहिए और इस सच्चाई के अवलोकन से ही मानस प्रलाप से मुक्त हो जाता है। जब ऐसा होता है तब प्रत्यक्षज्ञान, जो प्रज्ञा है, सक्रिय हो जाता है, यह अनुमान नहीं है कि अवलोकन के लिए मानस को शान्त होना चाहिए। पूर्वानुमान भी कार्यवाही कर सकता है पर यह कार्यवाही आंशिक एवं खण्डित होगी। आंशिक और पूर्ण में कोई सम्बन्ध ही नहीं है; आंशिक कभी भी पूर्ण में विकसित नहीं हो सकता। अतः अवलोकन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अवलोकन ही सावधान की स्थिति है; यह असावधानता ही है जो समस्याओं को जन्म देती है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं हर समय कैसे सावधान की स्थिति में रह सकता हूँ ? यह असम्भव है !

कृष्णमूर्ति :—यह तो ठीक है, है तो यह असम्भव। किन्तु अपनी असावधानी के प्रति सजग होना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, न कि हर समय कैसे सावधान रहें। यह लोभ ही तो वह है जो यह प्रश्न पूछता है : "मैं कैसे हर समय सावधान रह सकता हूँ"। आप सावधान होने के अभ्यास में भटक जाते हैं। सावधान होने का अभ्यास तो असावधानी है। आप सुन्दर होने का या

प्रेम करने का अभ्यास नहीं कर सकते। जब घृणा का अन्त होता है तभी वहाँ "अन्य" है। घृणा का अन्त तभी होता है जब आप इसे अपनी समग्र सावधानी दें; जब आप इसके बारे में ज्ञान संचित नहीं करते, केवल सीखते हैं। बहुत सरलता से आप आरम्भ करें।

प्रश्नकर्त्ता :—अगर आप को सुनने के बाद हम कुछ अभ्यास नहीं कर सकते तो आपका वार्ता करने का क्या उद्देश्य है?

कृष्णमूर्ति :—श्रवण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, न कि बाद में आप क्या अभ्यास करें। श्रवण तात्क्षणिक क्रिया है। अभ्यास समस्या को अवधि प्रदान करता है। अभ्यास तो पूर्ण रूप से अनावधानता की स्थिति है, अभ्यास पूर्ण असावधानी है; कभी भी अभ्यास न करें: आप केवल गलतियों का अभ्यास कर सकते हैं। सीखना सदैव अभिनव है।

17

दुःखभोग

प्रश्नकर्त्ता :—लगता है अपनी पूरी जिन्दगी में मैंने काफी कष्ट झेला है, शारीरिक रूप से नहीं वरन मृत्यु, अकेलेपन और अस्तित्व की निपट व्यर्थता से। मेरा एक बेटा था जिसे मैं बेहद प्यार करता था। एक दुर्घटना में उसकी मृत्यु हो गई। मेरी पत्नी मुझे छोड़कर चली गई, इससे मुझे बहुत पीड़ा हुई। सोचता हूँ मैं हजारों अन्य मध्यमवर्गीय लोगों की भाँति हूँ, जिनके पास पर्याप्त धन है और स्थायी नौकरी। मैं अपनी परिस्थितियों का दुखड़ा बयान नहीं कर रहा हूँ, पर मैं यह समझना चाहता हूँ कि दुःख का क्या अर्थ है और यह क्यों होता है। हमें यह बताया गया है कि दुःख से विवेक आता है, पर मैंने तो उलटा ही पाया।

कृष्णमूर्ति :—मुझे आश्चर्य है कि आपने दुःखभोग से क्या सीखा है? क्या आपने कुछ सीखा भी है? क्या सिखाया है दुःख ने आपको?

प्रश्नकर्ता :—निश्चय ही इसने मुझे सिखाया है कि लोगों से कभी भी अनुरक्त नहीं होना है, और सीखाई है कुछ कड़ुवाहट, कुछ दूरी और मनोभावों को अपने साथ चलने की अनुमति न देना। इसने मुझे काफी सावधान होना सिखाया है ताकि फिर से चोट न लगे।

कृष्णमूर्ति :—जैसा आप कहते हैं, इसने आपको विवेक नहीं सिखाया बल्कि उल्टे आपको ज्यादा धूर्त व असंवेदनशील बना दिया है। सिवाय आत्म-संरक्षात्मक प्रतिक्रियाओं के क्या दुःख आपको और भी कुछ सीखाता है?

प्रश्नकर्ता :—मैंने दुःखभोग को हमेशा जीवन का एक अंग माना है; पर किसी तरह, अब मैं महसूस करता हूँ कि दुबारा अनुशक्ति की पीड़ा सहे बिना, तड़क-भड़क, कड़ुवाहट और उदासीनता से मुक्त होना चाहूँगा। मेरा जीवन कितना उद्देश्यहीन, रिक्त, नितांत आत्म-परिबद्ध और महत्वहीन है। यह सामान्यता का जीवन है, शायद यह सामान्यता ही महानतम् दुःख है।

कृष्णमूर्ति :—व्यक्तिगत दुःख है और संसार का दुःख है। अज्ञानता का दुःख है और काल का दुःख है। यह अज्ञानता अपने स्वयं को जानने का अभाव है। समय या काल का दुःख तो छल या धोखा है कि समय हमारे दुःख का उपचार कर सकता है, व्यक्ति की मलहम-पट्टी कर सकता है, और बदल सकता है। अधिकांश लोग इस छलावे में फँस जाते हैं तथा या तो दुःख की पूजा करते हैं या इसका स्पष्टीकरण देते हैं। इन दोनों ही अवस्थाओं में दुःख तो बना ही रहता है, और आप स्वयं को यह नहीं पूछते कि क्या यह खत्म भी हो सकता है?

प्रश्नकर्ता :—मैं तो अब पूछ रहा हूं, क्या यह खत्म हो सकता है और कैसे? मैं इसका अन्त कैसे करूँ? मैं समझता हूँ कि इससे दूर भागने का, कड़ुवाहट या मानवद्वेषिता द्वारा प्रतिरोध करने से कोई फायदा नहीं है। इस सन्ताप को जिसे मैंने इतने लम्बे अर्से तक ढोया है, का अन्त करने के लिए मुझे क्या करना होगा?

कृष्णमूर्ति :—आत्मदया दुःख का एक तत्त्व है। दूसरा तत्त्व है किसी पर अनुरक्त होना और इस अनुरक्ति को बढ़ावा देना तथा संजोये रखना। दुःख

केवल तभी नहीं होता है जब अनुरक्ति आपको धोखा दे देती है; पर इसके बीज तो अनुरक्ति की शुरूआत में ही है। इस सबमें मुसीबत यह है कि स्वयं को जानने का नितान्त अभाव है। हम स्वयं को जानने से भयभीत हैं क्योंकि हमने खुद को, अच्छा-बुरा, दुष्ट-कुलीन और शुद्ध-अशुद्ध में विभाजित कर दिया है। अच्छा सदैव बुरे का मूल्यांकन करता रहता है और यह खण्ड आपस में युद्ध करते रहते हैं। यह युद्ध ही दुःख है। दुःख का अन्त करना तथ्यों को देखना है ना कि इसके प्रतिकूल या प्रतिपक्ष का आविष्कार करना, क्योंकि प्रतिकूल एक दूसरे को समोये हुए हैं। इन विपरीतों के गलियारे में चलना ही दुःख है। उच्च और अधम में, कुलीन और अकुलीन में, भगवान और दैत्य में, जीवन का यह खण्डन द्वन्द्व व पीड़ा उत्पन्न करता है। जहाँ दुःख है वहाँ प्रेम नहीं है। प्रेम और दुःख एक साथ नहीं रह सकते।

प्रश्नकर्त्ता :—ओह! पर प्रेम दूसरे को तो दुःख पहुँचा सकता है। मैं किसी से प्रेम कर सकता हूँ, पर फिर भी उसके लिए दुःख ला सकता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप प्रेम करते हैं तो दुःख क्या आप लाते हैं या अन्य व्यक्ति स्वयं लाता है? प्रोत्साहन या प्रोत्साहन के बिना आप किसी व्यक्ति पर अनुरक्त हैं, आप उससे मुँह मोड़ लेते हैं और वह दुःख भोगता है। क्या आपने उसे दुःख दिया या दुःखभोग का कारण वह स्वयं है?

प्रश्नकर्त्ता :—आपका अभिप्राय है कि उस व्यक्ति के दुःख के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हूँ, चाहे वो मेरे ही कारण हो? तब दुःख का हमेशा के लिए कैसे अन्त होगा?

कृष्णमूर्ति :—जैसा हमने कहा, केवल स्वयं को सम्पूर्णतः जानने से ही दुःख का अन्त हो सकता है। क्या आप स्वयं को एक ही झलक में जान जाते हैं या यह आशा रखते हैं कि एक लम्बे विश्लेषण के बाद जानेंगे? विश्लेषण द्वारा आप स्वयं को नहीं जान सकते। बिना संचय किए, सम्बन्धों में और क्षण-क्षण में, आप स्वयं को जान सकते हैं। इसका अर्थ है बिना चुनाव के वास्तविकता में जो घट रहा है उसके प्रति सजग होना। इसका तात्पर्य है कि जैसे भी आप हैं वैसे ही अपने आपको देखना, बिना विपरीत के, बिना आदर्श

के तथा बिना इस ज्ञान के कि आप कैसे थे। अगर आप स्वयं को रोष व विद्वेष की दृष्टि से देखते हैं तो जो आप देखते हैं वह अतीतरंजित है। जब आप स्वयं को देखते हैं तब हर समय अतीत को झटक देना ही अतीत से मुक्ति है। जब समझ का प्रकाश होता है तभी दुःख समाप्त होता है, और यह ज्योति किसी एक अनुभव या समझ की चमक से प्रदीप्त नहीं होती; यह समझ हर समय स्वयं को ही आलोकमय बनाये रखती है। कोई पुस्तक, कोई दांव-पेंच, कोई शिक्षक या उद्धारक, कोई भी आपको यह समझ नहीं दे सकता। स्वयं की समझ ही दुःख का अन्त है।

●

18

हृदय व मानस

प्रश्नकर्त्ता :—ऐसा क्यों है कि मनुष्य ने अपने अस्तित्त्व को विभिन्न कक्षों में विभाजित कर दिया है—जैसे बुद्धि व भावनाएँ ? प्रत्येक कक्ष एक दूसने से स्वतन्त्र प्रतीत होता है। जीवन की यह दो प्रेरक शक्तियाँ अक्सर इतनी अर्न्तविरोधी होती हैं कि यह हमारे अस्तित्व के ढाँचे का विदारण कर देती हैं। मनुष्य एक पूर्ण इकाई के रूप में कार्य कर सके, इसलिए इन्हें इकठ्ठा करना ही जीवन का मुख्य लक्ष्य रहा है। मनुष्य के भीतर इन दो वस्तुओं के साथ एक तीसरी वस्तु भी है, वह है मनुष्य का परिवर्तनशील परिवेश। उसके अन्दर की यह दो अर्न्तविरोधी वस्तुएँ आगे भी तीसरी चीज के विरोध में हैं जो उसके बाहर दिखाई पड़ती हैं। यहाँ पर एक इतनी उलझाने वाली, अन्तरविरोधी, विशाल समस्या है कि इन्हें इकट्ठा करने के लिए बुद्धि ने भगवान कही जाने वाली बाह्य एजेन्सी का आविष्कार कर लिया है। इससे सारा मामला और भी पेंचीदा हो गया है। जीवन में केवल यही एक समस्या है।

कृष्णमूर्ति :—लगता है आप अपने ही शब्दों में बह गये हैं। क्या यह वास्तव में आप की समस्या है या एक अच्छे वार्तालाप हेतु आप इसका आविष्कार कर रहे हैं? अगर यह मात्र विचार विमर्श के लिए है तो इसकी कोई वास्तविक विषय वस्तु नहीं है। परंतु अगर सचमुच ही यह एक समस्या है तो हम गहराई से इसकी जाँच कर सकते हैं। आभ्यन्तर खुद को विभिन्न कक्षों में विभाजित कर रहा है और स्वयं को परिवेश से भी अलग कर रहा है, यह एक जटिल परिस्थिति है। इससे भी आगे, जिसे यह समाज कहता है, यह उस परिवेश को वर्गों, जातियों तथा आर्थिक, राष्ट्रीय, व भौगोलिक समूहों में अलग कर रहा है। असल में यही दुनिया में हो रहा है और हम इसे जीना कहते हैं। इस समस्या का समाधान न कर पाने से हम कोई परम इकाई का आविष्कार कर लेते हैं, एक ऐसी एजेन्सी जो—हम उम्मीद रखते हैं—हमारे अन्दर और हमारे बीच एक बाँधने वाला गुण तथा सामंजस्य लायेगी। यह बाँधने वाला गुण जिसे हम धर्म कहते हैं, विभाजन का एक और कारण बन जाता है। अतः अब प्रश्न यह है : जीवन में सम्पूर्ण सामंजस्य कैसे आयेगा, वह सामंजस्य जिसमें कोई विभाजन नहीं होगा बल्कि ऐसी अवस्था होगी जिसमें हृदय व बुद्धि एक पूर्ण इकाई की अभिव्यक्ति होंगे? यह इकाई खण्ड नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं आप से सहमत हूँ, पर यह कैसे होगा? इसी के लिए मनुष्य सदैव उत्कण्ठित रहा है और सभी धर्मों, सभी राजनैतिक और सामाजिक युरोपिया द्वारा मनुष्य ने इसकी तलाश की है।

कृष्णमूर्ति :—आप पूछते हैं : "कैसे होगा"। "कैसे" का पूछना ही एक महान भूल है।" कैसे" यह अलगाव वादी घटक है। आप का "कैसे", मेरा "कैसे", और किसी अन्य व्यक्ति का "कैसे", यही सब है। अगर हमने इस शब्द का प्रयोग न किया तो ही हम वास्तव में छानबीन कर रहे होंगे, किसी एक निर्धारित परिणाम को पाने के लिए किसी पद्धति की तलाश नहीं कर रहें होंगे। क्या आप नुस्खे या परिणाम की धारणा को एक तरफ रख सकते हैं? अगर आप परिणाम की परिभाषा कर सकते हैं तो इसका अर्थ है आप इसे पहले से ही जानते हैं; और इसीलिए यह संस्कारबद्ध है और मुक्त नहीं है। अगर हमने नुस्खे को एक तरफ रख दिया है, तब हम दोनों छानबीन करने के योग्य हैं। क्या समन्वित समग्र को प्रस्तुत करना सम्भव है, बिना किसी बाह्य एजेन्सी के अविष्कार के, क्योंकि सभी बाह्य एजेन्सियाँ, चाहे वह परिवेश सम्बन्धी हो या परा-परिवेश सम्बन्धी, मात्र समस्या को बढ़ाती हैं?

सर्वप्रथम, यह मानस ही है जो खुद को मनोभाव, बुद्धि व परिवेश में विभाजित करता है। यह मानस ही उस बाह्य एजेन्सी का अविष्कार करता है; यह मानस ही समस्या का सृजन करता है।

प्रश्नकर्त्ता :—यह विभाजन केवल मानस में ही नहीं है। मनोभावों में तो यह और भी दृढ़ है। मुसलमान और हिन्दू अपने आपको अलग सोचते हैं, वह अपने आपको अलग महसूस करते हैं और यह मनोभाव वास्तव में उन्हें अलग कर देता है और उनसे एक दूसरे का नाश करवाता है।

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल यही बात है। सोच-विचार व मनोभाव एक ही है, यह शुरू से ही एक है, और बिलकुल यही हम कह रहे हैं। हमारी समस्या विभिन्न खण्डों के समन्वीकरण की नहीं है पर मानस और हृदय, जो एक है, को समझने की है। हमारी समस्या वर्गों से छुटकारा पाने की, या बेहतर यूटोपिया का निर्माण या बेहतर राजनैतिक नेता या नये धार्मिक गुरु पैदा करने की नहीं है। हमारी समस्या तो मानस है। हमें इस सार वस्तु पर सिद्धान्तः नहीं पहुँचना है, हकीकत में इसका अवलोकन कर लेना ही प्रज्ञा का उच्चतम रूप है। क्योंकि तब आप किसी वर्ग या धार्मिक समूह के सदस्य नहीं हैं। तब आप मुसलमान, हिन्दू, यहूदी या इसाई नहीं हैं। अब हमारे पास एक ही विचार-वस्तु है : मनुष्य का मानस विभाजन क्यों करता है? वह न केवल अपने कार्यकलापों को मनोभावों और विचारों में विभाजित करता है बल्कि स्वयं की भी अलग करता है, जैसे "मैं" को "आप" से, और "हम लोग" को "वे लोग" से। मानस और हृदय एक हैं। हमें यह नहीं भूलना चाहिए। जब हम मानस शब्द का प्रयोग करें, तब इसे याद रखें। अतः हमारी समस्या है : मानस क्यों विभाजन करता है?

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ।

कृष्णमूर्ति :—मानस ही विचार है। मानस की सभी क्रिया अलगाव व खण्डन है। विचार, स्मृति की अनुक्रिया है जो मस्तिष्क है। मस्तिष्क जब भी खतरा देखता है, उसे प्रतिक्रिया करनी ही चाहिए। यही प्रज्ञा है। पर यही मस्तिष्क विभाजन के खतरे को न देखने के लिए किसी तरह संस्कारबद्ध किया गया है। जब वह तथ्यों से सम्पर्क करता है तब इसकी क्रियाएँ बँध व अनिवार्य हैं। समान रूप से, मस्तिष्क जब यह तथ्य देखेगा कि विभाजन और

खण्डन इसके लिए खतरनाक हैं, तब वह क्रिया करेगा। यह कोई धारणा, आदर्शवाद, सिद्धान्त या अवधारणा नहीं है—क्योंकि यह सभी मूर्खता की चीजें हैं, सभी अलगाववादी हैं : यह एक तथ्य है। किसी खतरे को देखने के लिए मस्तिष्क को बहुत सतर्क एवं जागृत होना है; समस्त मस्तिष्क को, न केवल इसके एक खण्ड का।

प्रश्नकर्ता :—समस्त मस्तिष्क को जागृत रखना कैसे सम्भव है ?

कृष्णमूर्ति :—जैसा कि हमने पहले कहा कि यहाँ "कैसे" का प्रश्न नहीं है, केवल खतरे का अवलोकन है, यही सारतत्त्व है। अवलोकन किसी प्रचार या प्रतिबद्धता का परिणाम नहीं है; अवलोकन तो समस्त मस्तिष्क से है। जब मस्तिष्क सम्पूर्णतः जागृत है तो वहाँ कोई खण्डन, अलगाव या द्वैत नहीं है। इस निश्चेष्टता की गुणवता ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। आप मानस को मादक दवाओं द्वारा या हर प्रकार के छल-बल से निश्चेष्ट भी कर सकते हैं, पर ऐसे छल-कपट किसी दूसरी किस्म की भ्रान्ति व अन्तर्विरोध पैदा कर देंगे। यह निश्चेष्टता ही प्रज्ञा का उच्चतम रूप है जो कभी भी वैयक्तिक या अवैयक्तिक नहीं हैं, कभी भी आपकी या मेरी नहीं है। अनाम होने से यह समग्र और निर्मल है। यह वर्णन की अवज्ञा करती है, क्योंकि इसका कोई गुण नहीं है। यह सजगता, सावधानी और प्रेम है, यही उच्चतम है। बस इतनी सी बात है कि मस्तिष्क को पूर्णतः जागृत होना है। जैसे जंगल में जीवित रहने के लिए मनुष्य को अत्यधिक जागृत रहना है, उसी प्रकार संसार रूपी जंगल में मानव को पूर्ण रूप से जीने के लिए अत्यधिक जागृत रहना है।

19
सौन्दर्य और कलाकार

प्रश्नकर्त्ता :—एक कलाकार क्या है ? गंगा के किनारे, अन्धेरे छोटे से कमरे में एक आदमी बैठा सिल्क और सोने की अति सुन्दर साड़ी कात रहा है, उधर पेरिस में एक अन्य व्यक्ति अपनी शिल्पशाला में एक तस्वीर इस उम्मीद से बना रहा है कि उसे प्रसिद्धि मिलेगी। कहीं और एक लेखक, आदमी और औरत की पुरानी समस्या को दोहराते हुए नई कहानियाँ लिख रहा है। वैज्ञानिक और तकनीशियन प्रयोगशाला में लाखों पुरजों को जोड़ रहा है ताकि चन्द्रमा पर एक राकेट जा सके। भारत में एक संगीतज्ञ बहुत तपस्या का जीवन जी रहा है ताकि वह अपने संगीत का आसक्ति सौन्दर्य सम्प्रेषित कर सके। एक गृहिणी है जो खाना पका रही है और कवि जंगल में अकेला घूम रहा है। क्या यह सभी अपने ही रूप में कलाकार नहीं हैं ? मैं महसूस करता हूँ कि सुन्दरता तो प्रत्येक मनुष्य के हाथ में है, केवल इतना कि वह यह जानते नहीं है। वह व्यक्ति जो सुन्दर कपड़े व उत्तम जूते बनाता है, वह औरत जिसने आपकी मेज़

पर फूल सजाए हैं वह सभी सुन्दरता से काम करते जान पड़ते हैं। मुझे अक्सर हैरानी होती है कि चित्रकार, मूर्तिकार, संगीतकार, लेखक—तथाकथित रचनात्मक कलाकार—का ही संसार में इतना असाधारण महत्व क्यों है, मोची व बावर्ची का क्यों नहीं है? क्या ये रचनात्मक नहीं हैं? जब आप अभिव्यक्ति की विविधता के बारे में सोचते हैं—जिन्हें लोग सुन्दर मानते हैं—तो जीवन में सच्चे कलाकार का क्या स्थान है, और सच्चा कलाकार कौन है? ऐसा कहा गया है कि सुन्दरता ही समस्त जीवन का सार है। वहाँ पर दूर जो वह इमारत खड़ी है जिसे बहुत सुन्दर माना जाता है, क्या वह इसी सार की अभिव्यक्ति है? अगर आप सुन्दरता और कलाकार के इस प्रश्न की जाँच पड़ताल कर सकें तो मैं अपने को बहुत ही आभारी मानूँगा।

कृष्णमूर्ति :—निःसन्देह कलाकार तो उसी को कहते हैं जो अपनी क्रिया में निपुण है। यह क्रिया जीवन में ही है, जीवन के बाहर नहीं। अतः अगर निपुणता से जीया जाए तो उसी से एक सच्चा कलाकार बनता है। यह निपुणता दिन में कुछ घण्टों के लिए भी क्रियाशील हो सकती है, जब वह किसी वाद्य को बजा रहा है या कविता लिख रहा है या चित्र बना रहा है। या फिर यदि वह इस तरह के कई खण्डों में निपुण है तो निपुणता थोड़ी और अधिक क्रियाशील भी हो सकती है—रेनेसां के महान् व्यक्तियों की तरह जो कई माध्यमों में काम करते थे। पर कुछ घण्टों का संगीत या लेखन उसके शेष जीवन का प्रतिवाद हो सकता है, जो अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता में घिरा है। क्या ऐसा व्यक्ति किसी भी तरह कलाकार हो सकता है? वह व्यक्ति जो बहुत कारीगरी से वायलिन बजाता है और एक आँख सर्वदा अपनी प्रसिद्धि पर रखता है, तो जाहिर है कि वह वायलिन में दिलचस्पी नहीं रखता, वह तो प्रसिद्ध होने के लिए इसका शोषण कर रहा है। उसका "अहम" इस संगीत की बजाए कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ही लेखक व चित्रकार के साथ है जिनकी एक आँख ख्याति पर है। संगीतज्ञ अपने 'अहम' का तादात्म्य उससे करता है जिसे वह खूबसूरत मानता है, धार्मिक व्यक्ति अपने "अहम" का तादात्म्य जिसे वह लोकोत्तर मानता है उससे करता है। ये सभी अपने-अपने विशिष्ट छोटे-छोटे क्षेत्रों में निपुण हैं, पर वहाँ जीवन के शेष विशाल क्षेत्र की अवहेलना की जाती है। अतः हमें पता लगाना है कि क्रिया में निपुणता क्या है, चित्रकारी, लेखन या तकनीक में नहीं बल्कि जीवन में। आप समग्र जीवन को निपुणता व सुन्दरता से कैसे जी सकते हैं? क्या निपुणता व सौन्दर्य एक समान हैं? क्या मानव, चाहे वह

कलाकार है या नहीं—अपने समग्र जीवन को निपुणता व सौन्दर्य से जी सकता है ? जीना एक क्रिया है और जब यह क्रिया दुःख पैदा करती है, तो यह निपुण नहीं है। बिना दुःख, वैमनस्य, ईर्ष्या, लालच या बिना किसी प्रकार के द्वन्द्व में क्या मनुष्य जी सकता है ? विषय यह नहीं है कि कौन कलाकार है या कौन नहीं है, पर क्या एक मानव—आप या कोई अन्य—बिना यातना और विकृति के जी सकता है ? निःसन्देह महान संगीत, मूर्तिकला, कविता या नृत्य के महत्त्व को घटाना या उसका उपहास करना अपवित्र है। यह तो अपने ही जीवन में अकुशल होना है। लेकिन कारीगरी और सुन्दरता—जो क्रिया में निपुणता है—को दिन भर सक्रिय होना चाहिए, न कि केवल दिन के कुछ घण्टों के दौरान। यही वास्तविक चुनौती है, न कि पियानों को अच्छे ढंग से बजाना। अगर आप पियानों को हाथ लगाते हैं, तब तो इसे अच्छी तरह से ही बजाना चाहिए, पर यह तो पर्याप्त नहीं है। यह तो विशाल खेत के एक छोटे से हिस्से को जोतने के समान है। हमारा सरोकार समस्त क्षेत्र से है और यह क्षेत्र जीवन है। हम करते क्या हैं कि समस्त क्षेत्र की अवहेलना करके एक खण्ड पर एकाग्रचित्त हो जाते हैं, चाहे यह खण्ड आपका अपना हो या अन्य व्यक्तियों का। कलाकौशल तो सम्पूर्णतः जागृत होना है और इसीलिए समस्त जीवन की क्रिया में निपुण होना है, और यही सौन्दर्य है।

प्रश्नकर्त्ता :—कारखाने में काम करने वाले और दफ्तर के कर्मचारी के विषय में आप की क्या राय है ? क्या वे कलाकार हैं ? क्या उनका काम क्रिया से निपुणता को निकाल नहीं देता और इन्हें इतना निर्जीव बना देता है कि किसी और चीज के लिए भी उनके पास निपुणता नहीं हैं ? क्या वह अपने काम द्वारा प्रतिबद्ध नहीं हैं ?

कृष्णमूर्ति :—निःसन्देह वह हैं। अगर वह जाग जाते हैं तो या तो वह अपना काम छोड़ देंगे या उसको ऐसे रूपान्तरित करेंगे कि वह कलाकौशल बन जाए। काम महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि उसके प्रति जागना। काम की प्रतिबद्धता महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि जागना है।

प्रश्नकर्त्ता :—जागो, इससे आपका क्या अभिप्राय है ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आप परिस्थितियों, चुनौतियों, विपदा या आनन्द द्वारा जागृत होते हैं ? या जागने की कोई ऐसी अवस्था है जिसका कोई कारण नहीं है ? अगर आप किसी घटना या कारण द्वारा जागृत होते हैं तब तो आप उस पर निर्भर हो जाते हैं, और जब आप किसी चीज पर निर्भर हैं, चाहे वह दवा हो, कामवासना, चित्रकारी या संगीत, तो आप अपने को सुला दिए जाने की अनुमति दे रहे हैं। अतः किसी भी प्रकार की निर्भरता हमेशा निपुणता और कला कौशलता का अन्त कर देती है।

प्रश्नकर्त्ता :—यह अन्य जागृत अवस्था क्या है जिसका कोई कारण नहीं है ? क्या आप उस अवस्था की बात कर रहे हैं जिसका न तो कारण है, न परिणाम ? क्या मानस की ऐसी अवस्था हो सकती है जो कारण का परिणाम नहीं है ? मुझे यह समझ में नहीं आता क्योंकि जो हम हैं या जो हम सोचते हैं, निश्चय ही कारण का परिणाम है ? यह तो कार्य-कारण की अन्तहीन कड़ी है।

कृष्णमूर्ति :—यह कार्य-कारण की कड़ी अन्तहीन है क्योंकि कार्य ही कारण बन जाता है और कारण फिर से कार्य का प्रजनन करता है और यह सिलसिला जारी रहता हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—इस कड़ी से बाहर जाकर कौन सी क्रिया है ?

कृष्णमूर्ति :—हम अभी तक जो जानते हैं वह है क्रिया जो कारण या अभिप्राय से उत्पन्न होती है, वह क्रिया जो परिणाम है। सभी क्रियायें सम्बन्धों में ही होती हैं। अगर सम्बन्ध किसी कारण पर आधारित है तो यह चालाकी भरा अनुकूलन है, और अनिवार्यतः यह नीरसता के अन्य रूप की ओर ले जाता है। केवल प्रेम ही अहेतुक है, मुक्त है, यह सौन्दर्य है, यह निपुणता है, यह कला है। बिना प्रेम के कोई कला नहीं है। जब कोई कलाकार मनमोहक ढंग से किसी वाद्य को बजा रहा है तब वहाँ "अहम" नहीं है; वहाँ प्रेम है, सौन्दर्य है और यही कला है। यही वह निपुणता है जो क्रिया में है। क्रिया में निपुणता ही अहम् की अनुपस्थिति है। कला "अहम" का अभाव है। अगर आप समस्त जीवन-क्षेत्र की अवेहलना कर एक छोटे से हिस्से पर एकाग्रचित्त हैं, तब चाहे

"अहम" कितना भी अनुपस्थित क्यों न हो, आप तब भी अनाड़ी ढंग से जी रहे हैं। इसलिए आप जीवन के कलाकार नहीं हैं! जीवन में "अहम" का अभाव ही प्रेम है, सौन्दर्य है, जो अपनी ही निपुणता लाता है। जीवन के समग्र क्षेत्र में निपुणता से जीना ही महानतम कला है।

प्रश्नकर्त्ता :—हे प्रभु! कैसे करूँगा मैं यह सब? मैं इसे देख रहा हूँ और अपने हृदय में महसूस भी कर रहा हूँ, पर मैं इसे कायम कैसे रखूँ?

कृष्णमूर्ति :—इसे कायम रखने का, पोषित करने का कोई तरीका नहीं है; आप इसका अभ्यास भी नहीं कर सकते। केवल इसका अवलोकन है। सभी निपुणताओं में अवलोकन महानतम है।

●

20
निर्भरता

प्रश्नकर्त्ता :—मैं निर्भरता के स्वरूप को समझना चाहूँगा। मैं स्वयं को बहुत सी वस्तुओं पर निर्भर पाता हूँ—औरत पर, विभिन्न प्रकार के मनोविनोदों पर, अच्छी शराब, अपनी पत्नी व बच्चों पर, अपने मित्रों, तथा लोग क्या कहते हैं उस पर। सौभाग्यवश मैं धार्मिक मनोरंजन पर अब और निर्भर नहीं हूँ पर स्वयं को उत्तेजित करने के लिए पुस्तकों तथा अच्छी वार्ताओं पर मैं निर्भर रहता हूँ। मैं देखता हूँ कि नौजवान भी निर्भर रहते हैं, शायद उतने नहीं जितना मैं हूँ, पर उनकी निर्भरता की अपनी किस्में हैं। मैं पूर्वी देशों में गया और वहाँ देखा कि कैसे वे लोग गुरु और परिवार पर निर्भर रहते हैं। यूरोप और अमरीका की अपेक्षा वहाँ पर परम्परा का ज्यादा महत्त्व है और इसने काफी गहरी जड़े पकड़ी हुई हैं। अपने आपको जीवित रखने के लिए हम किसी न किसी वस्तु पर निर्भर दिखाई पड़ते हैं, न केवल भौतिक रूप से पर कहीं अधिक अन्दरूनी रूप से। मुझे आश्चर्य है कि इस निर्भरता से क्या सचमुच मुक्त होना सम्भव है। क्या हमें मुक्त होना भी चाहिये ?

कृष्णमूर्ति :—मैं यह मान लेता हूँ कि आपका सरोकार मनोवैज्ञानिक व आभ्यन्तरिक अनुरक्ति से है। जितने ज्यादा आप अनुरक्त हैं उतने ही निर्भर भी। अनुरक्ति केवल व्यक्तियों से ही नहीं है पर धारणाओं तथा और भी वस्तुओं से भी हैं। किसी व्यक्ति की अनुरक्ति विशिष्ट परिवेश से है तो किसी की विशिष्ट-देश से, इत्यादि, इत्यादि। इसी से निर्भरता उपजती है और इसीलिए प्रतिरोध भी।

प्रश्नकर्त्ता :—प्रतिरोध क्यों ?

कृष्णमूर्ति :—मेरी अनुरक्ति का विषय मेरी क्षेत्रिय या मेरी यौन संबंधी रियासत है। दूसरों द्वारा किसी भी रूप में अनाधिकार प्रवेश का प्रतिरोध करते हुए मैं इसकी रक्षा करता हूँ। जिन व्यक्तियों से मेरी अनुरक्ति है, मैं उनकी स्वतन्त्रता सीमित कर देता हूँ और अपनी भी सीमित कर लेता हूँ। अतः अनुरक्ति ही प्रतिरोध है। मैं किसी व्यक्ति या किसी वस्तु से अनुरक्त रहता हूँ। यह अनुरक्ति स्वत्वता है; स्वत्वता प्रतिरोध है, अतः अनुरक्ति प्रतिरोध है।

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ, मैं यह समझ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—मेरी सम्पत्ति पर किसी भी प्रकार का अनाधिकार-प्रवेश कानूनी या मनोवैज्ञानिक हिंसा की ओर ले जाता है। अतः अनुरक्ति हिंसा है, प्रतिरोध तथा बन्दीकरण है—बन्दीकरण स्वयं का भी और जिस पर अनुरक्त है उसका भी। अनुरक्ति का अर्थ है : इससे दूर रहो, यह मेरा है, आपका नहीं। अतः यह सम्बन्ध ही दूसरों के प्रति प्रतिरोध का है। आपका और मेरा : मेरा मत, मेरा निर्णय, मेरा परामर्श, मेरा भगवान तथा मेरा देश—ऐसी निरर्थकता की अनन्ता में सम्पूर्ण दुनिया विभाजित हो रखी है। इस सबको होते हुए देख कर, कपोल कल्पना में नहीं पर हमारे प्रतिदिन के जीवन में, क्या हम पूछ सकते हैं कि, वस्तुओं और धारणाओं से लोगों की अनुरक्ति क्यों है ? आप क्यों निर्भर रहते हैं ? पूरा अस्तित्व ही सम्बन्ध का है और सभी सम्बन्ध हिंसा, प्रतिरोध और प्रभुत्व सहित निर्भरता है। हमने सारी दुनिया को यही बना दिया है। जब आप किसी वस्तु को अधिकार में रखते हैं तो शासन तो करना ही होगा। देखिये, हमारी भेंट सौन्दर्य से होती है, वहाँ प्यार उपजता है और एकदम ही यह अनुरक्ति में बदल जाता है, व्यथा शुरू हो जाती है और प्यार तो कभी का खिड़की से बाहर चला गया। तब हम पूछते हैं, "हमारे महान प्यार को

क्या हो गया है।" वस्तुतः यही हमारी रोजमर्रा की जिन्दगी में हो रहा है। इस सबको देखते हुए हम पूछते हैं : निरपवाद रूप से मनुष्य अनुरक्त क्यों है, नां केवल उससे जो मनोहर है, पर हर प्रकार की भ्रांति और और ढेर सारी मूर्खतापूर्ण सनकों से ?

मुक्ति को अनिर्भरता की अवस्था नहीं कह सकते, यह तो एक वास्तविक अवस्था है जिसमें कोई निर्भरता नहीं हैं। यह एक परिणाम भी नहीं है और इसका कोई कारण भी नहीं है। इसे बहुत स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए, इससे पहले कि हम इस प्रश्न की जाँच पड़ताल करें कि मनुष्य निर्भर क्यों है तथा व्यथाओं से भरे अनुरक्ति के जाल में मनुष्य क्यों फँस जाता है ? अनुरक्त होते हुए हम स्वावलम्बन की अवस्था पैदा करने का प्रयत्न करते हैं—जो प्रतिरोध का दूसरा रूप हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—तो फिर मुक्ति क्या है ? आप कहते हैं कि यह निर्भरता का प्रतिकूल या निर्भरता का अन्त नहीं है : आप कहते हैं कि मुक्ति किसी वस्तु से नहीं होती, बस केवल मुक्ति है। यह क्या है ? क्या यह विविक्तक विचारणा है या यथार्थ है ?

कृष्णमूर्ति :—यह विविक्तक विचारणा नहीं है। यह तो मानस की वह अवस्था है जिसमें प्रतिरोध का नामोनिशान नहीं है। इधर-उधर के शिलाखण्डों को समायोजित करते हुए, या उनका चक्कर काटते हुए या उनको लांघते हुए यह एक दरिया के समान नहीं है। इस मुक्ति में कोई शिलाखण्ड नहीं है, केवल पानी की गति है।

प्रश्नकर्त्ता :—जीवन की इस दरिया में अनुरक्ति के शिलाखण्ड तो हैं। आप मात्र दूसरे दरिया के बारे में बात नहीं कर सकते जिसमें कोई शिलाखण्ड ही नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—हम शिलाखण्डों से न तो बचाव कर रहे हैं या यह कह रहे हैं कि इसमें वह है ही नहीं। हमें सर्वप्रथम मुक्ति को समझना चाहिए। यह वह दरिया नहीं है जिसमें शिलाखण्ड हों।

प्रश्नकर्त्ता :—मेरे पास तो अभी भी अपनी नदी है जिसमें शिलाखण्ड हैं और इसी विषय में मैं आप से पूछने आया था न कि बिना शिलाखण्डों की कोई अज्ञात नदी के विषय में। मुझे उससे कोई फायदा नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल ठीक है। अपने शिलाखण्डों को समझने के लिए आपको समझना चाहिए कि मुक्ति क्या है। कम से कम इस उपमा को कोड़े लगाते हुये मृत्यु द्वार तक तो ना पहुँचाए। हमें मुक्ति और अनुरक्ति दोनों पर ही विचार करना चाहिये।

प्रश्नकर्त्ता :—मेरी अनुरक्ति को मुक्ति से क्या करना है या मुक्ति को मेरी अनुरक्ति से क्या करना है?

कृष्णमूर्ति :—आपकी अनुरक्ति में पीड़ा है। आप इस पीड़ा से छुटकारा चाहते हैं, अतः आप विरक्ति का पोषण करते हैं जो प्रतिरोध का दूसरा रूप हैं। विपरीतों में कोई मुक्ति नहीं है। विपरीत समरूप है तथा एक दूसरे को बल देते हैं। आपकी जिसमें दिलचस्पी है वह यह है कि बिना व्यथा के अनुरक्ति के सुख को कैसे भोगते रहें। आप यह नहीं कर सकते। इसीलिए यह समझना महत्वपूर्ण है कि मुक्ति विरक्ति में नहीं है। अनुरक्ति को समझने में ही मुक्ति है, न कि अनुरक्ति से दूर भागने में। अब हमारा प्रश्न है : मानव अनुरक्त व निर्भर क्यों रहता है?

कुछ ना होने से तथा स्वयं में रेगिस्तान होने से आप दूसरे के जरिये पानी प्राप्त करने की उम्मीद रखते हैं। रिक्त, दरिद्र, बदकिस्मत, अपर्याप्त, रुचि या महत्व से विहीन होने के कारण, आप दूसरे के जरिये सम्पन्न होने की आशा रखते हैं। अन्य व्यक्ति के प्रेम के माध्यम से आप स्वयं को भूल जाना चाहते हैं। किसी और के सौन्दर्य से आप सुन्दरता प्राप्त करना चाहते हैं। परिवार, राष्ट्र, प्रियतम तथा किसी बेतुके विश्वास के माध्यम से आप इस रेगिस्तान को फूलों से ढकने की आशा रखते हैं। और अन्तिम प्रियतम भगवान है। अतः आप इन सब में फँस जाते हैं। इसमें पीड़ा व अनिश्चितता है और वह रेगिस्तान पहले से भी ज्यादा शुष्क नजर आता है। यह ना तो कम ना ज्यादा शुष्क है, यह जो था वही है, आपने मात्र इसको देखने कि अवहेलना कर दी है, पीड़ादायक अनुरक्ति के किसी रूप में, और फिर पीड़ा से विरक्ति में पलायन करते हुए। पर आप पहले के समान ही रिक्त व शुष्क रहते हैं। अतः अनुरक्ति या विरक्ति के द्वारा पलायन की कोशिश करने को बजाय क्या हम इस तथ्य के प्रति, इस गहरी अन्दरूनी दरिद्रता, अभाव, नीरसता, खोखलेपन, पृथकरण के प्रति सजग नहीं हो सकते? क्या इसे आप बिना निन्दा या मूल्यांकन के देख सकते हैं?

जब आप ऐसा करते हैं तो क्या आप इसे प्रेक्षक की तरह देखते हैं जो प्रेक्षित वस्तु को देख रहा है या आप बिना प्रेक्षक के देख रहे हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—प्रेक्षक ! इससे क्या अर्थ है आपका ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आप इसे एक केन्द्र से देख रहे हैं—केन्द्र के सभी पसन्दगी और नापसन्दगी के निष्कर्षों, अभिमतों, निर्णयों सहित तथा इस रिक्तता से आजाद होने की इच्छा से इत्यादि, इत्यादि ? क्या आप इस शुष्कता को निष्कर्ष की आँखों से देख रहे हैं या आप ऐसी आँखों से देख रहे हैं जो सर्वतः मुक्त है ? जब आप इसे सर्वतः मुक्त आँखों से देखते हैं तब कोई प्रेक्षक नहीं है। अगर वहाँ कोई प्रेक्षक नहीं है तो क्या प्रेक्षित वस्तु सूनापन, रिक्तता या बदनसीबी है ?

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आपके कहने का अर्थ है कि अगर मैं बिना निष्कर्ष, बिना केन्द्र, जो प्रेक्षक है, के देखूँ तब वहाँ वृक्ष विद्यमान नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—निसन्देह वृक्ष तो विद्यमान है।

प्रश्नकर्त्ता :—जब मैं बिना प्रेक्षक के देखता हूँ, तब सूनापन अदृश्य क्यों हो जाता है और वृक्ष क्यों नहीं ?

कृष्णमूर्ति :—क्योंकि वृक्ष केन्द्र यानि "अहम" के मानस द्वारा रचित नहीं है ? "अहम" के मानस ने अपनी आत्म-केन्द्रित क्रियाओं द्वारा इस रिक्तता और पृथक्करण की रचना की है। जब वही मानस बिना केन्द्र के देखता है तो आत्म-केन्द्रित क्रिया का अन्त हो जाता है। अतः वहाँ सूनापन नहीं है। मानस वहाँ मुक्ति से क्रिया करता है। अनुरक्ति और विरक्ति के समस्त ढाँचे को तथा सुख-दुःख की गति को देखते हुये, हम देखते हैं कि कैसे अहम का मानस अपने खुद के रेगिस्तान और पलायनों का निर्माण करता है। जब "अहम" का मानस निरुद्वेग है, तब वहाँ कोई रेगिस्तान या पलायन नहीं है।

●

21

विश्वास

प्रश्नकर्त्ता :—मैं उन लोगों में से हूँ, जो वास्तव में ही भगवान में विश्वास रखते हैं। भारत में मैंने एक महान आधुनिक सन्त का अनुसरण किया जिन्होंने, क्योंकि वह भगवान में विश्वास करते थे, बहुत बड़े राजनीतिक परिवर्तन लाये। भारत में पूरा देश का देश भगवान की ताल पर स्पन्दित होता है। सम्भवतः आपका भगवान में विश्वास नहीं है क्योंकि मैंने आपको ऐसे विश्वास के विरुद्ध बोलते सुना है। आप एक धार्मिक पुरुष हैं और इसलिये आपको एक प्रकार की परम की अनुभूति तो होगी ही। मैं पूरे भारत और यूरोप के कई हिस्सों में, मठों, गिरिजाघरों व मस्जिदों के दर्शनों के लिए गया हूँ। हर जगह मैंने भगवान में यही शक्तिशाली, अकाट्य विश्वास पाया, क्योंकि लोगों को उम्मीद है कि भगवान उनके जीवन को गढ़ता है। यद्यपि आप धार्मिक पुरुष हैं, फिर भी आप भगवान में विश्वास नहीं करते, अतः इस प्रश्न के सम्बन्ध में आपका ठीक-ठीक रूख क्या है? आप विश्वास क्यों नहीं करते? क्या आप नास्तिक हैं? जैसा कि

आप जानते हैं, हिन्दूवाद के अनुसार आप चाहे आस्तिक हों या नास्तिक, फिर भी आप समान रूप से हिन्दू रह सकते हैं। निःसन्देह ईसाइयों के साथ यह भिन्न है। अगर आपका भगवान में विश्वास नहीं है तो आप ईसाई नहीं हो सकते। परन्तु यह विषय से अलग है। मैं आपसे पूछने आया हूँ कि आप अपनी स्थिति स्पष्ट करें तथा इसकी मान्यता प्रमाणित करें। लोग आपका अनुसरण करते हैं, इसीलिए उनके प्रति आपका उत्तरदायित्व है और इसीलिए मैं आपको चुनौती देता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—चलिए, हम सबसे पहले इस आखिरी विषय को ही सुलझाते हैं। मेरा कोई अनुयायी नहीं है, और आपके लिए या जो मेरी वार्ता सुनने आते हैं उनके लिए मेरा कोई उत्तरदायित्व भी नहीं है। और यह भी, न तो मैं हिन्दू हूँ और न ही और कुछ, क्योंकि मैं धार्मिक या अन्य किसी ऐसे समूह का सदस्य भी नहीं हूँ। प्रत्येक को अपना ही प्रकाश होना है। इसलिए न कोई शिक्षक है, न कोई शिष्य। आरम्भ से ही इसे स्पष्टतः समझ लेना चाहिए अन्यथा आप प्रभावित हो जाते हैं, या प्रचार अथवा अनुनय के दास बन जाते हैं। अतएव, जो कुछ भी अभी कहा जा रहा है, वह धर्ममत, धर्मपन्थ या अनुनय नहीं है। या तो हम समझने में एक साथ हैं या हम नहीं समझते। आपने बहुत ही बलपूर्वक कहा है कि आप भगवान में विश्वास करते हैं और जिसे ईश्वरत्व कहा जाता है, आप सम्भवतः उसे विश्वास द्वारा अनुभव करना चाहते हैं। विश्वास में बहुत सी चीजें निहित हैं। आपने जिन्हें नहीं देखा उन तथ्यों में विश्वास करते हैं पर आप उन्हें इस तरह सत्यापित करते हैं, जैसे न्यूयार्क या ऐफिल टावर की उपस्थिति। आप भले यह विश्वास कर सकते हैं कि आपकी पत्नी वफादार है, लेकिन वास्तव में असलियत क्या है यह आप नहीं जानते हैं। वह शायद विचारों में व्यभिचारी हो, पर फिर भी आप विश्वास करते हैं कि वह वफादार है क्योंकि आपने उसे किसी अन्य व्यक्ति के साथ जाते नहीं देखा है; प्रतिदिन के विचारों में वह धोखा दे सकती है, और आपने भी निश्चय ही ऐसा ही किया होगा। आप पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, यद्यपि उसकी कोई निश्चितता नहीं है। फिर भी उस विश्वास की आपके जीवन में कोई मान्यता नहीं है, क्या है? सभी ईसाई विश्वास करते हैं कि प्रेम करना चाहिए, पर वह करते नहीं, बल्कि औरों की तरह वह भी शारीरिक या मनोवैज्ञानिक रूप से लोगों का बध करते रहते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें भगवान में विश्वास नहीं है पर फिर भी अच्छाई करते हैं। कुछ ऐसे हैं जो

भगवान में विश्वास करते हैं और उसी विश्वास के नाम पर वध करते हैं। जो यह दावा करते हैं कि उन्हें शान्ति चाहिए वे युद्ध की तैयारी करते हैं; ऐसे ही और भी लोग है। अतः आपको अपने आपसे ही पूछना है कि किसी भी वस्तु में किसी तरह का विश्वास करने की क्या जरूरत है, हालाँकि यह जीवन में विलक्षण रहस्य का निषेध नहीं है। विश्वास एक चीज है और "जो है" वह दूसरी चीज है। विश्वास तो मात्र एक शब्द है, मात्र एक विचार, और वह वस्तु नहीं हो सकता, उसी तरह जैसे आपका नाम वस्तुतः आप तो नहीं है।

अनुभव के माध्यम से आप अपने विश्वास की सत्यता को छूने की आशा कर सकते हैं तथा इसे स्वयं के लिए सिद्ध करने की आशा भी कर सकते हैं, पर यह विश्वास आप के अनुभव को प्रतिबद्ध करता है। यह ऐसा नहीं है कि अनुभव विश्वास को सिद्ध करने के लिए होता हैं। बल्कि विश्वास अनुभव का सृजनन करता है। आप का भगवान में विश्वास है तो जिसे आप भगवान कहते हैं उसका अनुभव देगा। आप जो विश्वास करते हैं सदैव वही अनुभव करेगें, और इसके अलावा कुछ भी नहीं। और यह आपके अनुभव को अमान्य कर देता है। एक ईसाइ हमेशा मरियम, देवदूत और ईसामसीह को देखेगा, ऐसे ही एक हिन्दू अनेक देवताओं को देखेगा। मुसलमान, बौद्ध, यहूदी तथा साम्यवादी भी ऐसे ही हैं। विश्वास अपने ही द्वारा कल्पित परिणाम को प्रतिबद्ध करता है। आप क्या विश्वास करते हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं हैं पर आप विश्वास क्यों करते हैं यह महत्त्वपूर्ण है। आप विश्वास करते ही क्यों हैं? चाहे आप एक चीज में विश्वास रखे या दूसरी में, जो यथार्थ है उसमें फर्क ही क्या पड़ता है? तथ्य कभी विश्वास या अविश्वास से प्रभावित नहीं होते। अतः हमें पूछना है कि हम विश्वास करते ही क्यों हैं, विश्वास का आधार क्या है? क्या यह भय है, क्या यह जीवन की अनिश्चितताएं हैं—अज्ञात का भय, नित्य परिवंतनशील दुनिया में सुरक्षा का अभाव? क्या यह सम्बन्धों की असुरक्षा है? या कि, जीवन की विशालता का सामना होने से और इसे ना समझने से, आप स्वयं को विश्वास के घेरे में परिबद्ध कर लेते हैं? अतएव, अगर आप की आज्ञा हो तो क्या मैं आप से पूछ सकता हूँ कि अगर आप को कोई भी भय न होता तो क्या आप के पास कोई अपना विश्वास होता?

प्रश्नकर्ता :—मुझे निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि मै भयभीत हूँ, पर मैं भगवान से प्रेम अवश्य करता हूँ और प्रेमवश मुझे उसमें विश्वास है।

कृष्णमूर्ति :—आप का अर्थ है कि क्या आप भयरहित हैं ? और इसलिए जानते हैं कि प्रेम क्या है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैंने प्रेम को भय के स्थान पर स्थापित कर दिया है और इसलिए भय का मेरे लिए कोई स्थान नहीं है, और इसीलिये मेरा विश्वास किसी भय पर आधारित नहीं है।

कृष्णमूर्ति :—क्या आप प्रेम को भय के स्थान पर रख सकते हैं ? क्या यह विचार की क्रिया नहीं है जो भयभीत है और भय को प्रेम कहे जाने वाले शब्द से आवृत कर देती है, जो फिर एक विश्वास है ? आपने भय को एक शब्द से ढाप दिया है और उस शब्द से चिपके हुए हैं, यह भरोसा रखते हुए कि भय छितरा जायेगा।

प्रश्नकर्त्ता :—आप जो कह रहे हैं वह मुझे बहुत क्षुब्ध कर रहा है। मैं बिल्कुल ही आश्वस्त नहीं हूँ कि मैं इस वार्ता में और आगे बढ़ना भी चाहता हूँ, क्योंकि मेरे विश्वास और प्रेम ने मुझे अब तक जीवित रखा है और शालीन जीवन व्यतीत करने में मेरी सहायता की है। मेरे विश्वास पर यह प्रश्नचिन्ह एक अव्यवस्था का भाव लाता है जो सचमुच मुझे भयभीत कर देता है।

कृष्णमूर्ति :—इसका अर्थ है कि आपमें भय है, जो आप अपने लिए अनुभव करना शुरू कर रहे हैं। यह आप को क्षुब्ध करता है। भय से ही विश्वास का जन्म होता है और है यह बहुत विनाशकारी वस्तु। भय और विश्वास से मुक्त होना ही चाहिये। यह विश्वास ही है जो लोगों को विभाजित करता है, कठोर बनाता है, एक दूसरे से घृणा करवाता है, और युद्ध का संवर्धन करता है। घूम-घामकर और न चाहते हुए भी आपको यह मानना पड़ रहा है कि भय विश्वास का प्रजनन करता है। भय के तथ्य का सामना करने के लिए विश्वास से मुक्ति अनिवार्य है। विश्वास किसी अन्य आदर्श की भाँति "जो है" से पलायन है। जब भय नहीं है तब मानस एक भिन्न आयाम में रहता है। केवल तभी आप यह प्रश्न पूछ सकते हैं कि भगवान है या नहीं। भय या विश्वास से आच्छादित मानस सत्य क्या है के बोध के लिये तथा किसी भी प्रकार की समझ के लिए असमर्थ है। ऐसा मानस सर्वदा भ्रांति में जीता है और स्पष्टतः जो परम है उस तक नहीं पहुँच पाता। आपके या किसी अन्य व्यक्ति के विश्वास, अभिमत, या निष्कर्ष से उस परम का कोई सरोकार नहीं।

न जानते हुए भी आप विश्वास करते हैं और जानना ही न जानना है। जानना तो समय के नन्हें से क्षेत्र में हैं, और मानस जो कहता है "मैं जानता हूँ" वह समय द्वारा बंधा है, इसीलिए सम्भवतः "जो है" को नहीं समझ सकता। अखिरकार, जब आप कहते हैं "मैं अपनी पत्नी और मित्र को जानता हूँ", तब आप जानते हैं केवल उनकी प्रतिमा या स्मृति को, और यह अतीत है। अतएव आप कभी भी वस्तुतः किसी वस्तु या किसी व्यक्ति को नहीं जान सकते। आप प्राणी को नहीं, केवल मृत वस्तु को जान सकते हैं। जब आपको इसका अवलोकन होगा तब आप "जानने" की भाषा में सम्बन्ध के विषय में अधिक नहीं सोचेंगे। अतः आप कभी भी नहीं कह सकते कि "कोई भगवान नहीं है" या "मैं भगवान को जानता हूँ"। यह दोनों ही ईश्वर-निंदा है। "जो है" को समझने के लिए मानस मुक्त होना चाहिये—केवल ज्ञात से ही मुक्त नहीं—पर ज्ञात और अज्ञात दोनों के भय से मुक्ति होनी चाहिए।

प्रश्नकर्त्ता :—"जो है" को समझने की आप बात कर रहे हैं, और फिर भी जानने की मान्यता का निषेध करते हैं। यह समझ अगर जानना नहीं है तो और क्या है ?

कृष्णमूर्ति :—यह दोनों काफी भिन्न हैं। जानना सदैव अतीत से सम्बन्धित है, इसीलिए आप को वह अतीत से बाँधता है। किसी चीज के जानने के विपरीत यह समझ कोई निष्कर्ष या संचय नहीं है। अगर आप ने यह सुना तो मानो आप ने समझ लिया। समझ ही तो सावधानी है। जब आप पूर्णतया सावधान हैं, तभी आप समझते हैं। अतः भय की समझ ही भय का अन्त है। आपका विश्वास और अधिक प्रबल घटक नहीं हो सकता; भय की समझ प्रबल है। जब कोई भय नहीं है तो वहाँ मुक्ति है। केवल तभी आप पता लगा सकते हैं कि सत्य क्या है। जब "जो है" को भय विकृत नहीं करता तब "जो है" वह सत्य है। यह शब्द नहीं है। आप सत्य को शब्दों से नहीं माप सकते। प्रेम कोई शब्द या विश्वास या ऐसी चीज नहीं है जिसे आप पकड़ सकें और अधिकार में लेकर कहें कि "यह मेरा है"। बिना प्रेम और सौन्दर्य के यदि आप भगवान कहते हैं तब तो वह कुछ नहीं है।

●

22
स्वप्न

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे पेशेवर लोगों ने बताया है कि स्वप्न देखना उतना ही आवश्यक है जितना दिन के समय का सोचना-विचारना तथा की गई क्रियायें। अगर मैं स्वप्न न देखूँ तो मैं अपनी प्रतिदिन की ज़िन्दगी में बहुत ही खिंचाव व तनाव पाता हूँ। वह आग्रह करते हैं—यहाँ मैं अपने ही शब्दों का प्रयोग कर रहा हूँ, न की उनकी विशिष्ट शब्दावली—कि निद्रा की एक खास अवधि में पलकों की गति स्फूर्तिदायक स्वप्नों को प्रगट करती हैं, और ये स्वप्न मष्तिष्क को निश्चित स्पष्टता प्रदान करते हैं। मुझे लगता है कि इन स्वप्नों के प्रारूपों द्वारा लाये गये सन्तुलन की बजाए, मानस को निश्चलता, निस्तब्धता जिसके विषय में अक्सर आप ने कहा है, क्या जीवन को ज्यादा सामन्जस्य प्रदान नहीं करती ? मैं यह भी पूछना चाहूँगा कि स्वप्नों की भाषा वैसी क्यों है जो प्रतीकों की है ?

कृष्णमूर्ति :—भाषा तो खुद ही प्रतीक हैं। हम प्रतीकों के आदि हैं : हम वृक्ष को प्रतिमा के माध्यम से देखते हैं जो वृक्ष का प्रतीक है। हमने अपने पड़ोसी की प्रतिमा बना रखी है और उसे हम प्रतिमा के द्वारा ही देखते हैं। बिना प्रतिमाओं, अभिमतों तथा निष्कर्षों के, जो सब कुछ प्रतीक हैं, किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष रूप से देखना मानव के लिए बहुत कठिन है। स्वप्नों में प्रतीक बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं और इसमें बहुत बड़ा धोखा व खतरा है। यद्यपि हमें मालूम है कि स्वप्न प्रतीकों में आते हैं और हम इसका अर्थ निकालने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु यह अर्थ हमें सदैव स्पष्ट नहीं होता। जब हम कुछ देखते हैं तो हम इतने अनायास बोलते हैं कि हम पहचानते ही नहीं कि शब्द भी प्रतीक हैं। यह सब यही संकेत करता है कि तकनीकी मामलों में तो सीधा संवाद हो सकता है पर मानवीय सम्बन्धों एवं समझ में कभी ही कभार हो। जब आप पर कोई प्रहार करता है तब आपको प्रतीकों की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ सीधा सम्पर्क है। यह बहुत ही दिलचस्प विषय हैं : वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से देखने के लिए तथा बिना शब्द और प्रतीक के स्वयं के प्रति सजग होने के लिए मानस इनकार करता हैं। आप कहते हैं आकाश नीला है। अपने नीलेपन के सन्दर्भ के अनुसार श्रोता इसका अर्थ निकालता है और आप को अपने बीजलेख में सम्प्रेरित करता है। अतएव हम प्रतीकों में जीते हैं और स्वप्न इस प्रतीकात्मक प्रक्रिया का ही हिस्सा है। बिना प्रतीकों, शब्दों, पूर्वाग्रहों और निष्कर्षों के हम सीधे और तात्कालिक प्रत्यक्षज्ञान में असमर्थ हैं। इसका कारण भी स्पष्ट हैं : प्रतिरक्षा, प्रतिरोध, पलायन और भय सहित यह आत्म-केन्द्रित क्रिया का हिस्सा है। मष्तिष्क की कार्यवाही में बीजांकित अनुक्रिया होती है और इसीलिये स्वप्न स्वभावतः प्रतिकात्मक होगें क्योंकि जागृत घंटों के दौरान हम सीधी अनुक्रिया या प्रत्यक्षज्ञान में असमर्थ हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह मष्तिष्क का स्वाभाविक कार्य है।

कृष्णमूर्ति :—स्वाभाविक से अभिप्राय है कुछ स्थायी, अपरिहार्य तथा टिकाऊ। कोई भी मनोवैज्ञानिक अवस्था निःसंदेह बदली जा सकती है। जीव की शारीरिक सुरक्षा की निरन्तर माँग ही केवल मस्तिष्क चाहता है। मन की रक्षा के लिए प्रतीक तो मस्तिष्क की युक्ति है; यह समस्त प्रक्रिया मात्र विचार की है। "अहम" एक प्रतीक है, हकीकत नहीं। "अहम" रूपी प्रतीक का सृजन करने के

पश्चात् विचार अपने ही निःष्कर्षों तथा फारमूलों से तादात्मय स्थापित कर लेता है। सभी व्यथा और दुःख का यहीं से उद्भव होता है।

प्रश्नकर्त्ता :—तब मैं इससे कैसे पार पाऊँ ?

कृष्णमूर्ति :—जब आप पूछते हैं कैसे इससे पार पाऊँ तो आप तो अभी भी "अहम" रूपी प्रतीक को थामे हुए हैं, जो मनगढ़न्त है; आप जो कुछ देखते हैं उससे अलग हो जाते हैं और इससे केवल द्वैत पनपता है।

प्रश्नकर्त्ता :—इसे जारी रखने के लिए क्या मैं किसी और दिन आ सकता हूँ ?

× × ×

प्रश्नकर्त्ता :—यह आप की दयालुता ही तो थी कि मुझे आपने दुबारा आने दिया; मैं वहीं से आगे बढ़ना चाहूँगा जहाँ हमने छोड़ा था। हम स्वप्न में प्रतीकों के विषय में बातचीत कर रहे थे और आपने संकेत किया कि अपने परितोष के अनुसार अर्थ लगाते हुए हम प्रतीकों में जीते हैं। यह केवल हम स्वप्नों में ही नहीं करते बल्कि हररोज़ की जिन्दगी में भी करते हैं। यह हमारा सामान्य आचरण हैं। हमारी अधिकांश क्रियाएँ इन प्रतीकों या प्रतिमाओं के भाष्य पर ही आधारित होती हैं। हैरानी की बात है कि उस दिन आप से बातें करने के पश्चात मेरे स्वपनों ने अनोखा मोड़ ले लिया। बहुत ही क्षुब्ध करने वाले स्वप्न आए, और जैसे-जैसे वह घटित होते रहे, उन स्वपनों का भाष्य भी स्वप्नों में होता रहा। यह साथ-साथ होने वाली प्रक्रिया थी; स्वप्न का भाष्य स्वप्नदृष्टा द्वारा हो रहा था। ऐसा तो मेरे साथ पहले कभी नहीं हुआ।

कृष्णमूर्ति :—जागृत अवस्था में प्रेक्षित वस्तु से भिन्न एक प्रेक्षक होता है, अपनी क्रिया से अलग एक कर्त्ता। इसी प्रकार स्वप्न से अलग स्वप्नदृष्टा है। वह सोचता है कि वह स्वपन से अलग है। और इसीलिये स्वप्न को भाष्य की जरूरत है। क्या स्वप्न कभी स्वप्नदृष्टा से भिन्न है, क्या कोई आवश्यकता है इसके भाष्य की ? जब प्रेक्षण ही प्रेक्षित है तब अर्थ, निणर्य, आंकने और मूल्यांकन की क्या जरूरत है। यह आवश्यकता तो तभी होती जब प्रेक्षक प्रक्षित वस्तु से भिन्न होता। इसे समझना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हमने प्रेक्षित को प्रेक्षक से अलग कर दिया है और इससे न केवल भाष्य की समस्या उत्पन्न होती है बल्कि द्वन्भीद्व और उसी से सम्बन्धित बहुत सी अन्य समस्याएँ भी। ऐसा विभाजन भ्रांति है।

समूहों, जातियों और राष्ट्रीयताओं में यह विभाजन काल्पनिक है। हम नामों और लेविलों द्वारा अविभाजित प्राणी हैं। परन्तु जब लेवल ही सर्वमहत्त्वपूर्ण वन जाते हैं तब विभाजन हो जाता है और युद्ध और अन्य सभी संघर्ष अस्तित्व में आ जाते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—तब मैं स्वप्न के अन्तर्विषय को कैसे समझूँ ? इसकी कोई तो सार्थकता होगी ही। क्या यह केवल संयोग है कि मैं स्वप्न में किसी आदमी या घटना को देखता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—इसे हमें काफी अलग ढंग से देखना चाहिए। समझने के लिये कुछ है क्या ? जब प्रेक्षक सोचता है कि वह प्रेक्षित वस्तु से भिन्न है तब उसके बाहर जो है उसे वह समझने का प्रयास करता है। यही प्रक्रिया उसके अन्दर भी चलती रहती है। प्रेक्षित वस्तु, जो वह स्वयं है, को समझने की इच्छा करता हुआ प्रेक्षक है। पर जब प्रेक्षक ही प्रेक्षित है तब समझने का कोई प्रश्न ही नहीं है, केवल प्रेक्षण है। आप कहते हैं कि स्वप्न में समझने के लिए कुछ रहता है अन्यथा स्वप्न आते ही नहीं, आप कहते हैं कि स्वप्न अनसुलझे कुछ की ओर इशारा है जिसे समझना चाहिए। आप "समझना" शब्द का प्रयोग करते हैं और इसी शब्द में द्वैतवादी प्रक्रिया है। आप सोचते हैं कि एक "मैं" है और दूसरा समझने के लिए वस्तु, जबकि वास्तविकता में यह दोनों इकाईयाँ एक ही हैं। अतएव स्वप्न में अर्थ की तलाश मात्र द्वन्द्व की क्रिया है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप कहेगें कि स्वप्न मानस की ही किसी चीज की अभिव्यक्ति है ?

कृष्णमूर्ति :—बिल्कुल यही है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि जिस ढंग से आप व्याख्या कर रहे हैं उस ढंग से स्वप्न को मानना कैसे सम्भव है। अगर इसकी सार्थकता ही नहीं है तब यह आता ही क्यों है ?

कृष्णमूर्ति :—"मैं" स्वप्नदृष्टा है और यह स्वप्नदृष्टा, जिसे उसने ही आविष्कारित या प्रेक्षपित किया है, उस स्वप्न में सार्थकता देखना चाहता है, अतः यह दोनों ही स्वप्न हैं, दोनो ही अवास्तविक हैं। यह आवास्तविकता ही वास्तविकता बन जाती है उस स्वप्नदृष्टा या प्रेक्षक के लिए, जो स्वम् को वस्तु

से अलग समझते हैं। कर्ता-क्रिया के बीच अलगाव तथा विभाजन में ही स्वप्न-भाष्य की समस्त समस्या उठती है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं तो अधिकाधिक उलझता ही जा रहा हूँ। क्या हम इसकी फिर से अलग ढंग से छानबीन कर सकते हैं ? मैं यह समझा हूँ कि स्वप्न मेरे ही मानस का उत्पादन है और इससे अलग नहीं है, पर स्वप्न तो मानस की उन तहों से आते प्रतीत होते हैं जिनका अभी अन्वेषण ही नहीं हुआ है, और इसी लिये लगता है कि मानस में किसी सक्रिय वस्तु की ये सूचनायें हैं।

कृष्णमूर्ति :—यह आपका कोई विशिष्ट मानस तो है नहीं जिसमें छुपी हुई वस्तुए हैं। आपका मानस मनुष्य जाति का ही तो मानस है, आप की चेतना समस्त मानव जाति की चेतना है। जब आप इसे विशिष्ट बना देते हैं जैसे की आप का मानस तो आप इसकी कार्यवाही को सीमित कर देते हैं, इसी परिसीमन से स्वप्न का उद्भव होता है। बिना प्रेक्षक के—जो परिसीमन की अभिव्यक्ति है—जाग्रत क्षणो में प्रेक्षण करे। कोई भी विभाजन परिसीमन है स्वयं को "अहम" और "अनाहम" में विभाजित करने के पश्चात "अहम" यानि द्रष्टा या स्वप्न देखने वाले की बहुत सी समस्याएँ खड़ी होती हैं, जैसे स्वप्न तथा स्वप्न का भाष्य। बहरहाल, आप स्वप्न की सार्थकता या मूल्य केवल एक सीमित ढंग से ही देख सकते हैं क्योंकि प्रेक्षक सीमित है। स्वप्नद्रष्टा अपनी ही सीमाओं को चिरस्थायी बनाता है, इसी वजह से स्वप्न सदैव अपूर्णता की अभिव्यक्ति है, समग्र की कभी भी नहीं।

प्रश्नकर्त्ता :—चन्द्रमा से कुछ नमूने लाये गये हैं ताकि चन्द्रमा के संयोजन को समझा जा सके। इसी भाँति स्वप्नों से नमूने लाकर हम मानवीय सोच-विचार को समझने की कोशिश कर रहे हैं कि वह किस चीज की अभिव्यक्त करते हैं।

कृष्णमूर्ति :—मानस की अभिव्यक्तियाँ मानस के ही खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड स्वयं को अपने ही ढंग से अभिव्यक्त करता है और अन्य खण्डों का प्रतिवाद करता है। एक स्वप्न दूसरे स्वप्न का, एक क्रिया दूसरी क्रिया का, एक आकांक्षा दूसरी आकांक्षा का, प्रतिवाद कर सकती है। इसी अस्तव्यस्तता में मानस जीता है। मानस का एक अंश कहता है कि उसे दूसरे अंश को समझना है, जैसे कोई स्वप्न, क्रिया या आकांक्षा। अतएव प्रत्येक खण्ड का अपना प्रेक्षक है, अपनी कार्यवाही है; फिर एक महाप्रेक्षक उनका तालमेल बैठाने की कोशिश करता

है। महाप्रेक्षक भी मानस का ही खण्ड है। यह अन्तर्विरोध तथा विभाजन ही है जो स्वप्न पैदा करते हैं।

अतः वास्तविक प्रश्न विशिष्ट स्वप्नों का समझना या उसका भाष्य नहीं है; यह तो प्रत्यक्षज्ञान है कि यह बहुतेरे खण्ड एक समग्र में निहित हैं। तब आप स्वयं को समग्र रूप में देख सकते हैं, समग्र के खण्ड के रूप में नहीं।

प्रश्नकर्त्ता :—महोदय, क्या आप यह कह रहे हैं कि हमें दिन में जीवन की समग्र गति के प्रति सजग होना चाहिए, न कि केवल अपने ही पारिवारिक और कारोबारी जीवन या जीवन के किसी विशेष पहलू के ही प्रति ?

कृष्णमूर्ति :—चेतना तो समग्र मनुष्य जाति की है, यह किसी विशिष्ट व्यक्ति की धरोहर नहीं है। जब चेतना केवल विशिष्ट व्यक्ति की होती है, तब वहाँ खंडन, अन्तर्विरोध तथा युद्ध की पेचीदा समस्या उत्पन्न होती है। जब मानव में जागृत अवस्था के दौरान जीवन की पूर्ण गति के प्रति सजगता है, तब स्वप्नों की जरूरत ही क्या है? यह पूर्ण सजगता और सावधानी खण्डन और विभाजन का अन्त कर देती है। जब कोई भी द्वन्द्व नहीं है तब मानस को स्वप्नों की आवश्यकता ही नहीं।

प्रश्नकर्त्ता :—निश्चय ही इसने एक द्वार को खोला है जिसमें से मैं अनेक वस्तुएं देख सकता हूँ।

हाल ही का अतीत नहीं वरन् स्मरणातीत, सामूहिक, जातीय, मानवीय, तथा पाशविक अतीत ? आप यही सब कुछ हैं, इससे अलग नहीं। आप पूछ रहे हैं : क्या आप इस सबको एक तरफ रख सकते हैं और नये सिरे से जन्म ले सकते हैं ? "आप" वही हैं, नवीन इकाई जिसकी आप कल्पना करते हैं वह "नवीन" शब्द से आच्छादित पुरातन का ही प्रक्षेपण है। इस सबके अंकुर में तो आप अतीत ही हैं। प्रश्न तो यहाँ यह है कि क्या अतीत को एक तरफ रखा जा सकता है ? या यह परम्परा का किंचित परिवर्तित रूप हमेशा के लिए चलता रहता है, बदलता हुआ, संचय करता हुआ, फेंकता हुआ, किन्तु विभिन्न संयोगों में वह अतीत ही रहता है ? अतीत कारण है और वर्तमान कार्य है, और आज जो बीते हुए कल का कार्य है, वही आनेवाले कल का कारण बन जाता है। यह कड़ी विचार का ही रूप है क्योंकि विचार अतीत है। आप पूछते हैं कि क्या आप आज में कल की गति के प्रवेश को रोक सकते हैं। क्या आप अतीत को परीक्षण करने के लिए देख सकते हैं ? या यह बिल्कुल भी सम्भव नहीं है ? इसे देखने के लिए प्रेक्षक को इससे बाहर होना होगा—और वह है नहीं। यहाँ अब एक नया प्रश्न उठता है—अगर प्रेक्षक स्वयं ही अतीत है तो अतीत प्रेक्षण हेतु कैसे पृथक् हो सकता है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैं किसी चीज को वस्तुगत दृष्टि से देख सकता हूँ……

कृष्णमूर्ति :—पर आप, जो प्रेक्षक हैं, अतीत ही है जो स्वयं देखने की कोशिश कर रहा है। आप स्वयं को वस्तुगत बना सकते हैं मात्र प्रतिमा की भाँति जो आपने हर प्रकार के सम्बन्धों के रूप में इकट्ठा की है। अतएव आप जिस "आप" को वस्तुगत बना रहे हैं वह तो स्मृति, कल्पना और अतीत है। आप अपनी ओर देखने की कोशिश इस प्रकार कर रहे हैं मानो आप देखने वाले से कोई भिन्न इकाई हों। पर आप अतीत हैं—इसके पुराने निर्णयों और मूल्यांकनों सहित। अतीत की क्रिया अतीत की स्मृति को देख रही है। अतएव अतीत से कभी भी राहत नहीं है। अतीत का अतीत द्वारा निरन्तर परिक्षण करना अतीत को चिरस्थायी बनाता है; यही अतीत की क्रिया है और परम्परा का सार भी यही है।

प्रश्नकर्त्ता :—तब कौन सी क्रिया सम्भव है ? अगर मैं अतीत हूँ और मैं देख सकता हूँ कि मैं वही हूँ—तब मैं अतीत को काटने के लिए जो कुछ भी करूँगा वह तो इसी में कुछ और जोड़ना जैसा होगा। मैं तो निस्सहाय हो गया

हूँ। मैं कर क्या सकता हूँ ? मैं प्रार्थना भी नहीं कर तकता क्योंकि भगवान का आविष्कार फिर से अतीत की क्रिया है। मैं किसी अन्य की तरफ भी नहीं देख सकंता, क्योंकि अन्य भी मेरे नैराश्य का ही तो सृजन हैं। मैं इस सबसे भाग कर कहीं जा ही नहीं सकता क्योंकि इसके अन्त में मैं फिर अपने अतीत के साथ ही रहूँगा। मैं अपना किसी प्रतिमा के साथ भी तादात्मय स्थापित नहीं कर सकता। क्योंकि प्रतिमा भी तो मेरा ही प्रक्षेपण है। यह सब देखते हुए मैं निस्सहाय और निराश हो जाता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—आप इसे निस्सहायपन और नैराश्य क्यों कहते हैं ? आप जिसे अतीत देख रहे हैं, क्या आप उसका भावात्मक चिन्ता में अनुवाद नहीं रहे हैं क्योंकि आप कोई निश्चित परिणाम नहीं पा सक रहे हैं ? ऐसा करके आप फिर से अतीत द्वारा क्रिया करवा रहे हैं। मुक्त होने की, बदलने की, हेर-फेर करने की, या इससे दूर भागने की—क्या आप अतीत की यह सब गतियों को देख सकते हैं—इनसे मुक्त होने की, बगैर चाह किये बिना किसी प्रतिक्रिया के, बस आप मात्र प्रेक्षण करें ?

प्रश्नकर्त्ता :—जैसे हम बातचीत के दौरान कहते आए हैं, अगर मैं अतीत हूँ तो मैं कैसे अतीत का प्रेक्षण कर सकता हूँ ? मैं इसे देख नहीं सकता !

कृष्णमूर्ति :—बिना विचार की किसी गति के जो अतीत है, क्या आप स्वयं को देख सकते हैं जो खुद अतीत है ? बिना सोच-विचार, मूल्यांकन, पसन्द-ना पसन्द, कोई निर्णय करते हुए अगर आप देख सकते हैं, तब वहाँ एक ऐसा अवलोकन है जो अतीत द्वारा स्पर्शित नहीं है। बिना विचार द्वारा शोर किये यह मौन में देखना है। इस मौन में न तो प्रेक्षक है, न वह वस्तु जिसे वह अतीत के रूप में देख रहा है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप यह कह रहे हैं कि ज़ब कोई बिना निर्णय या मूल्यांकन के देखता है तो अतीत अदृश्य हो जाता है ? पर यह होता नहीं है—अब भी वहाँ हजारों विचार, क्रियाएँ और संकीर्णताएँ रहती हैं, जो मात्र एक क्षण पहले उच्छृंखल थीं। मैं उन्हें देखता हूँ और वह फिर भी है। आप कैसे कह सकते हैं कि अतीत अदृश्य हो गया है ? यह पलभर के लिए क्रिया भले रोक सकता है······

कृष्णमूर्ति :—जब मानस मौन है तो वह मौन एक नया आयाम है, और यदि वहाँ कोई उच्छृंखल संकीर्णता है भी, तो तत्क्षण ही वह विलिप्त हो जाती है क्योंकि मानस के पास अब भिन्न कोटि की ऊर्जा उपलब्ध है जो अतीत द्वारा उत्पादित ऊर्जा नहीं है। इसी बात का महत्त्व है। उस ऊर्जा का होना जो अतीत को आगे ले जाने से दूर रखती है। अतीत को आगे ले जाना भिन्न प्रकार की ऊर्जा है। मौन दूसरे को मिटा देता है; महत्तर लघु को आत्मसात कर लेता है और अस्पर्शित रहता है। यह तो समुद्र की तरह है जो गन्दी नदियाँ मिलते हुए भी शुद्ध रहता है। इसी का महत्त्व है। केवल यही ऊर्जा अतीत को मिटा सकती है। या तो मौन है या अतीत का कोलाहल। इस मौन में कोलाहल समाप्त हो जाता है और जो अभिनव है वह मौन है। यह नहीं कि आप नवीन बनते हैं। यह मौन तो अपरिमित है और अतीत सीमित है। मौन की पूर्णता में अतीत की परिबद्धता छिन्न-भिन्न हो जाती है।

24

प्रतिबद्धता

प्रश्नकर्त्ता :—आपने प्रतिबद्धता के विषय में काफी बात की है और कहा है कि हमें इस बन्धन से मुक्त होना चाहिए अन्यथा हम सदैव बन्दी ही रहते हैं। इस प्रकार का कथन बहुत ही अमर्यादित जान पड़ता है और अस्वीकार्य भी। हममें से अधिकांश गहन रूप से प्रतिबद्ध हैं और आपका ऐसा कथन सुनकर हम अपने हाथ डाल देते हैं और ऐसी मनमानी अभिव्यक्ति से परे भागते हैं। पर मैंने आप को गम्भीरता से लिया है—आखिरकर, आप ने तो कम या अधिक अपना संपूर्ण जीवन ही इसमें लगाया है, किसी शौक से नहीं, बल्कि गम्भीरता से। मानव कहाँ तक स्वयं को अप्रतिबद्ध कर सकता है यह देखने के लिए मैं आप से विचार-विमर्श करना चाहूँगा। क्या यह सचमुच सम्भव है, और अगर है तो इसका क्या अर्थ है ? आदतों और परम्पराओं की दुनिया में रहने के पश्चात् तथा अनेक विषयों में रूढ़िवादी धारणाओं को स्वीकार कर लेने के बाद, इतनी गहरी जड़ों

वाली प्रतिबद्धता को उखाड़ फेंकना क्या मेरे लिये सम्भव है ? आपका प्रतिबद्धता से ठीक-ठीक क्या अर्थ है, और प्रतिबद्धता से मुक्ति से आप का क्या अर्थ है ?

कृष्णमूर्ति :—प्रथम प्रश्न को हम पहले लेते हैं। हम प्रतिबद्ध हैं, शारीरिक, तन्त्रिकीय और मानसिक रूप से; जिस जलवायु और संस्कृति में हम रहते हैं; जो भोजन खाते हैं; हमारे समस्त सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक परिवेश से; हमारे अनुभव से, शिक्षा से तथा पारिवारिक दबाव और प्रभाव से। यह सब घटक हमें प्रतिबद्ध करते हैं। बौद्धिक, भावात्मक, बाह्य तथा भीतरी—हमारी इन सभी परिवेश की चुनौतियों के प्रति जो हमारी सचेत व अचेत अनुक्रियाएँ हैं—यह सब प्रतिवद्धता की क्रियाएँ हैं। भाषा प्रतिवद्ध करती है; सभी विचार की क्रिया प्रतिबद्धता की क्रिया है, सभी अनुक्रिया प्रतिवद्धता है।

यह जानते हुए कि हम प्रतिबद्ध हैं, फिर भी हम किसी दैवी एजन्सी का अविष्कार कर लेते हैं और धर्मनिष्ठा से आशा रखते हैं कि वह हमें इस मशीन जैसी अवस्था से बाहर निकालेगी। स्वयं के बाहर या भीतर हम इसके अस्तित्व की अभिधारणा कर लेते हैं—जैसे की आत्मन्, स्वर्गराज्य, जो कहीं भीतर है, और न जाने क्या-क्या ! निराशोत्मत्ता के कारण हम इन विश्वासों से चिपके रहते हैं, यह न देखते हुए कि जिस प्रतिबद्धता का इन्हें विनाश या उद्धार करना है। यह सब उसी प्रतिबद्धक घटक के ही अंश हैं। अतः इस दुनिया में स्वयं को अप्रतिबद्ध करने में अपने को समर्थ न पा कर और यह भी न देखते हुए कि प्रतिबद्धता एक समस्या है, हम सोचते हैं कि मुक्ति किसी स्वर्ग, मोक्ष या निर्वाण में है। ईसाई मत में और समस्त पूर्वीय संसार के भी मत में, हम देखते हैं कि प्रतिबद्धक घटक को महसूस किया गया है हालांकि अस्पष्ट तौर पर। अगर इसे स्पष्टतः देखा जाता तो यह मिथक और अभिमत स्वभावतः उठते ही नहीं। आजकल मनोवैज्ञानिक भी इस समस्या को अपनी पकड़ में लेने की कोशिश कर रहे हैं और ऐसा करने से वह हमें और भी प्रतिबद्ध करते हैं। इसी प्रकार धार्मिक विशेषज्ञों ने, सामाजिक आदेशों ने तथा परिवार जो समाज का अंश है उसने भी हमें प्रतिबद्ध किया है। यह सब अतीत है जो मानस की प्रकट और छुपी हुई दोनों तहों को बनाता है। प्रसंगवश, इस पर ध्यान देना बहुत ही दिलचस्प होगा कि तथाकथित कोई व्यक्ति है ही नहीं, क्योंकि उसका मानस प्रतिबद्धता के जिस सामान्य भण्डार से अपना पोषण करता है, वह वही सामान्य भण्डार में सभी के साथ हिस्सा भी बटाता है। अतएव समुदाय और

व्यक्ति में विभाजन झूठा है। केवल है वहाँ प्रतिबद्धता। वस्तुओं, लोगों तथा विचारों के सभी सम्बन्धों में सभी क्रियायें जो होती हैं वह प्रतिबद्धता की ही क्रिया है।

प्रश्नकर्त्ता :—इस सबसे मुक्त होने के लिए मुझे क्या करना चाहिये ? इस मशीन जैसी स्थिति में जीना तो कोई जीना नहीं है, और फिर सभी क्रिया, संकल्प, निर्णय तो प्रतिबद्ध हैं—अतएव प्रतीयमानतः उस प्रतिबद्धता के लिए मैं कुछ नहीं कर सकता जो प्रतिबद्ध नहीं है ! मेरे तो हाथ और पाँव दोनों ही बँधे हैं।

कृष्णमूर्ति :—अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी में प्रतिबद्धता का घटक यह "अहम" ही है, जो समय की शब्दावली में सोचता है। और यह "अहम" ही है जो सर्वदा अपना जोर मारता है। "अहम" जो स्वयं उद्योगशील है, अब मुक्त होने की माँग के प्रयास में लगा हुआ है। सभी प्रतिबद्धताओं की जड़ यह विचार है जो "अहम" है। "अहम" तो अतीत का सार है; "अहम" ही समय है; "अहम" ही दुःख है—"अहम" ही स्वम् को स्वम् से मुक्त करने का प्रयत्न करता रहता है। "अहम" कुछ बनने के लिए उद्यम करता है, कुछ पाने के लिए संघर्षरत है तथा निषेध करता है। यह कुछ बनने का संघर्ष ही समय है, जिसमें अस्तव्यस्तता है, कुछ और बेहतर के लिए लोभ है। "अहम" सुरक्षा की तलाश करता है और इसे न पाते हुए अपनी तलाश स्वर्ग की ओर अन्तरित कर देता है। यही "अहम" —जो अपना किसी महत्तर से तादात्म्य स्थापित करता है, जिसमें वह स्वयं को भूल जाने की अपेक्षा रखता है, चाहे वो राष्ट्र हो, आदर्श हो या कोई भगवान हो—वह प्रतिबद्धता का ही घटक है।

प्रश्नकर्त्ता :—आपने तो मुझसे सब कुछ छीन लिया है। मैं इस "अहम" के बिना फिर क्या हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—अगर आप में "अहम" नहीं है तो आप संस्कार मुक्त हैं, आप प्रतिबद्ध नहीं हैं, जिसका तात्पर्य है कि अब आप कुछ नहीं हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—"मैं" के प्रयास किये बिना क्या "अहम" का अन्त हो सकता है ?

कृष्णमूर्ति :—कुछ बनने का प्रयास तो प्रतिबद्धता की क्रिया व अनुक्रिया ही तो है।

प्रश्नकर्त्ता :—"अहम" की क्रिया कैसे रुक सकती है ?

कृष्णमूर्ति :—यह अवश्य रूक सकती है अगर आप इस समस्त विषय का, इसके समस्त कार्य का, अवलोकन करें। अगर आप इसे क्रिया में देखें जो सम्बन्धों में है तो यह अवलोकन ही "अहम" का अन्त है। यह अवलोकन न केवल अप्रतिबद्ध क्रिया है, वरन् यह प्रतिबद्धता पर भी क्रिया करता है।

प्रश्नकर्त्ता :—मस्तिष्क, जो अपरिमित प्रतिबद्धता सहित एक विशाल विकास का परिणाम है—वह क्या स्वयं को मुक्त कर सकता है, क्या आप यह कहना चाहते हैं?

कृष्णमूर्ति :—मस्तिष्क समय का परिणाम है; शारीरिक रूप से वह अपने को बचाने के लिए संस्कारबद्ध है, पर जब यह स्वयं को मनोवैज्ञानिक रूप से बचाने की कोशिश करता है, तब "अहम" की शुरुआत होती है और हमारी सब व्यथा यहीं से आरम्भ हो जाती है। स्वयं को मनोवैज्ञानिक रूप से बचाने का यह प्रयास ही "अहम" की अभिपुष्टि है। मस्तिष्क तकनीकि ढंग से ज्ञान प्राप्त कर सकता है तथा सीख सकता है, पर जब यह मनोवैज्ञानिक रूप से ज्ञान अर्जित करता है तब यह ज्ञान अनेक सम्बन्धों में "अहम" की भाँति स्वाग्रही हो जाता है—अपने अनुभवों, अपने संकल्पों और अपने हिंसाओं सहित। इसी से सम्बन्ध में विभाजन, द्वन्द्व व दुःख आता है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या यह मस्तिष्क कभी मौन हो सकता है और केवल जब इसे तकनीकी कार्य करना हो तभी सक्रिय हुआ करे—जब क्रिया में ज्ञान की आवश्यकता हो तभी परिचालन करे—उदाहरणार्थ, भाषा को सीखने के लिए, कार चलाने के लिए, या फिर घर बनाने के लिए।

कृष्णमूर्ति :—मस्तिष्क का तकनीकी और मनोवैज्ञानिक ऐसे दो में विभाजन करने में खतरा है। यह फिर से अन्तर्विरोध, प्रतिबद्धता या फिर एक सिद्धांत बन जाता है। वास्तविक प्रश्न है : क्या समस्त मस्तिष्क बिल्कुल मौन या स्थिर हो सकता है ताकि जब इसे तकनीक या जीवन में कोई अनुक्रिया करनी हो तभी वह कार्यकुशलता से करे। अतएव हमारा सरोकार तकनीकी या मनोवैज्ञानिक से नहीं है; हम केवल पूछते हैं, क्या समस्त मानस मौन हो सकता है और जब इसे कार्य करना हो तभी वह कार्य करे ? हम कहते हैं कि यह हो सकता है और ध्यान क्या है की यही वह समझ है।

× × ×

प्रश्नकर्त्ता :—अगर इजाज़त हो तो हमने जहाँ कल छोड़ा था वहीं से आज शुरू करें। आपको शायद याद होगा कि मैंने दो प्रश्न पूछे थे : मैंने पूछा था कि प्रतिबद्धता क्या है और प्रतिबद्धता से मुक्ति क्या है। आपने कहा था कि पहले प्रथम प्रश्न को लेते हैं। दूसरे प्रश्न की जाँच-पड़ताल के लिए हमारे पास समय नहीं था, तो आज मैं पूछना चाहूँगा कि जब मानस अपनी समस्त प्रतिबद्धताओं से मुक्त है, तब उसकी क्या अवस्था है ? कल आप से बात करने के पश्चात् मुझे स्पष्ट हो गया कि मैं कितनी गहनता और दृढ़ता से प्रतिबद्ध हूँ और मैंने इस प्रतिबद्धता के ढाँचे में एक दरार, एक छेद देखा—कम से कम मैं सोचता हूँ कि मैंने देखा। प्रतिबद्धता के निश्चित तथ्यात्मक दृष्टान्त लेते हुए मैंने अपने मित्र से बात की और मैंने स्पष्टतः देखा कि हमारी क्रिया कितनी गहराई से और ज़हरीले ढंग से इससे प्रभावित है। और आपने अन्त में कहा कि मानस को सभी प्रतिबद्धता से रिक्त करना ही ध्यान है ताकि कोई विकृति या भ्रांति न हो। हम कैसे विकृति और भ्रांति से मुक्त हो सकते हैं ? भ्रांति क्या है ?

कृष्णमूर्ति :—स्वयं को छलना बहुत सरल है, किसी भी चीज के लिए स्वयं को मनवा लेना कितना सहज है। यह अहसास कि कुछ बनना है, छलावे का प्रारम्भ है; निसन्देह यह आदर्शवादी अभिवृत्ति हमें ढोंगीपन के विविध रूपों की ओर ले जाती है। भ्रांति किस चीज से बनती है ? कई घटकों में से एक तो 'जो है' और 'जो होना चाहिए' या 'जो हो सकता है' की यह सतत तुलना है, अच्छा और बुरा में यह माप, स्वयं में सुधार करते हुए विचार, सुख की स्मृति, और अधिक सुख प्राप्त करने की चेष्टा, इत्यादि-इत्यादि। यह और अधिक के लिए आकांक्षा, यह अतृप्ति, जो किसी वस्तु में विश्वास दिलवाती हैं, अनिवार्यतः छलावे व भ्रांति के हर रूप की ओर हमें ले जायेगी। यह आकांक्षा और भय, आशा और निराशा ही तो हैं जो लक्ष्य व अनुभव के निष्कर्ष को प्रक्षेपित करते हैं। अतएव इस अनुभव में कोई यथार्थता नहीं है। समस्त तथाकथित धार्मिक अनुभव इसी प्रारूप का अनुसरण करते हैं। प्रबोध की यह अभिलाषा सत्ता के स्वीकरण का प्रजनन करती है; और यही प्रबोध का विरोधी है। आकांक्षा, अतृप्ति, भय, भोग-विलास, कुछ अधिक की इच्छा, परिवर्तन की चाहत, यह सब नाप तौल हैं—यही हैं भ्रांति के रास्ते।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आपको किसी चीज के लिए बिलकुल ही भ्रांति नहीं है ?

कृष्णमूर्ति :—मैं हर समय स्वयं को नहीं मापता और न ही दूसरों को। परिवर्तित करने की चाह न रखते हुये, अच्छे बुरे की शब्दावली में न परखते हुए

जब आप वस्तुतः "जो है" के संग जी रहे हैं तभी इस माप से मुक्ति है। किसी वस्तु के साथ जीना इसका स्वीकरण नहीं है : वस्तु तो है ही, चाहे आप स्वीकार करें या न करें। किसी वस्तु के साथ जीना स्वयं से उसका तादात्मय स्थापित करना भी नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या हम इस प्रश्न पर पुनः लौट सकते हैं कि आखिर वह मुक्ति है क्या चीज जिसे वास्तव में कोई चाहता है ? यह मुक्ति की आकांक्षा अपनी अभिव्यक्ति प्रत्येक में करती है, कभी-कभी बड़े ही मूर्खतापूर्ण ढंग से। मैं सोचता हूँ कि मानव हृदय में मुक्ति के लिए सदैव गहरी उत्कण्ठा रहती है जो कभी पूर्ण नहीं होती। मुक्ति के लिए अनवरत संघर्ष चलता रहता है। मैं जानता हूँ कि मैं मुक्त नहीं हूँ तथा इतनी चाहतों में जकड़ा पड़ा हूँ। मैं मुक्त कैसे हो सकता हूँ ? वस्तुतः ईमानदारी से मुक्त होने का क्या अभिप्राय है ?

कृष्णमूर्ति :—शायद इससे समझने में कुछ सहायता मिले : पूर्ण निषेध ही मुक्ति है। जिसे हम सकारात्मक मानते हैं उस सबको तथा पूर्ण सामाजिक नैतिकता, आभ्यान्तरिक सत्ता का स्वीकरण, यथार्थ के प्रति किसी ने जो कुछ भी कहा है या निष्कर्ष निकाला है, सिवाय तकनोकी ज्ञान के सभी ज्ञान, शिक्षा, सभी परम्परा, सभी अनुभव, याद रहने वाले या भूले हुए सुखों से उपजी सभी प्रवृत्तियाँ, किसी विशिष्ट ढंग से क्रिया करने की वचनबद्धता, सभी आदर्शों, मतों तथा सभी सिद्धांतों को नकारना। ऐसा निषेध ही सबसे अधिक सकारात्मक क्रिया है और इसलिए यही मुक्ति है।

प्रश्नकर्त्ता :—अगर मैं इसे थोड़ा-थोड़ा करके छेनी से काटता रहूँ, तब तो मैं यह करता ही चला जाऊँगा और यही मेरा बन्धन बन जायेगा। क्या यह सब कुछ एक ही क्षण में, एक ही झटके में, समाप्त हो सकता है ? क्या मैं समस्त मानवीय कपट, मूल्यों, अभिलाषाओं, सभी मापदण्डों को तत्क्षण नकार सकता हूँ ? क्या इसे सम्पूर्णता से देखने के लिये अत्यधिक समझ, एक अत्यधिक क्षमता की आवश्यकता नही है, जिसका मेरे पास नितान्त अभाव है ? महोदय, इस सबमें क्या निहित है, क्या आप जानते हैं ? हमारे जैसे शिक्षा-दीक्षा वाले साधारण व्यक्ति से यह सब पूछना या इसमें उसको गोता लगाने के लिए कहना ऐसी चीज़ के लिये जो अविश्वसनीय शून्यता प्रतीत होती है······क्या मैं यह सब कर सकता हूँ ? मुझे तो यह भी नहीं पता की इसमें छलांग लगाने का क्या अर्थ है। यह तो अचानक ही अत्यधिक सुन्दर, सुबोध, रमणीय मानव बन जाने

के लिए पूछने के समान है। अब मैं वास्तव में ही भयभीत हूँ पर वैसे नहीं जैसे पहले मैं था, अब तो मेरा सामना उस वस्तु से है जो सत्य है, फिर भी ऐसा करने की मेरी नितान्त अयोग्यता मुझे बाँधती है। सचमुच ही पूर्णतः कुछ न होना, की सुन्दरता को मैं देखता हूँ परंतु.........

कृष्णमूर्ति :—आप जानते हैं, जब स्वयं में रिक्तता है, खोखले मानस की रिक्तता नहीं, पर वह रिक्तता जो पूर्ण निषेध से आती है—सबका निषेध यानि आप जो थे, या जो आप होंगे, या जो आप को होना चाहिए—केवल इसी रिक्तता में कुछ अभिनव हो सकता है। वहीं पर सृजन है। भय तो अज्ञात का विचार मात्र है। तो वस्तुतः आप अनुरक्तियों, ज्ञात, तृप्ति, सुखदायी स्मृतियां, सातत्य और सुरक्षा जो आराम देती है, को छोड़ने से भयभीत हैं। इसकी तुलना विचार उस चीज से करना प्रारंभ कर देता है जिसे वह रिक्तता सोचता है। रिक्तता की कल्पना मात्र भय है, अतः भय विचार है। अब हम आपके प्रश्न पर लौटते हैं—क्या मानस नकार सकता है उसे जो कुछ इसने जाना है तथा चेतन व अचेतन आत्मा के पूर्ण अन्तर्विषय को भी, जो आपका स्वयं का सार है ? क्या आप स्वयं को पूर्णतः नकार सकते हैं ? अगर नहीं तो मुक्ति नहीं है। मुक्ति का अर्थ किसी वस्तु से मुक्ति होना नहीं है—यह तो केवल प्रतिक्रिया है। मुक्ति तो पूर्ण निषेध से आती है।

प्रश्नकर्त्ता :—ऐसी मुक्ति से क्या लाभ ? आप तो मुझे मर जाने के लिए कह रहे हैं, क्या आप यह नहीं कह रहे हैं ?

कृष्णमूर्ति :—निसन्देह ! जब आप कहते हैं कि ऐसी मुक्ति से क्या लाभ है, तो आप "लाभ" शब्द का प्रयोग किस अर्थ में कर रहे हैं ? लाभ किस सन्दर्भ में ? ज्ञात के सन्दर्भ में ? मुक्ति परम् लाभ है, इसकी क्रिया प्रतिदिन के जीवन का सौन्दर्य है। सिर्फ इस मुक्ति में ही जीवन है, इसके बिना प्रेम कैसे हो सकता है ? मुक्ति में ही सब कुछ का सत्व और अस्तित्व है। इसकी कोई सीमा नहीं है। यह सर्वत्र है और कहीं नहीं है। जो कुछ आप जानते हैं क्या उसके लिए आप मर सकते हैं, मरने के लिए कल का इन्तजार ना करें ? यह मुक्ति शाश्वत और प्रहर्ष है, यह प्रेम है।

●

25

प्रसन्नता

प्रश्नकर्त्ता :—प्रसन्नता क्या है ? मैंने हमेशा इसे पाने का प्रयत्न तो किया पर यह मुझे मिली नहीं। मैं लोगों को विभिन्न ढंगों से आनन्द प्राप्त करते हुए देखता हूँ और बहुत सी चीजे जो वे करते हैं वे कितनी अपरिपक्व और बचकाना जैसी लगती हैं। मेरा अनुमान है कि वे अपने ढंग से प्रसन्न हैं, पर मुझे भिन्न प्रकार की प्रसन्नता चाहिए। मुझे विलक्षण अनुभूति हुई है कि इसे प्राप्त करना सम्भव है पर किसी तरह यह मुझसे सदैव बच निकलती है। सचमुच पूर्णतया इसे महसूस करने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आप सोचते हैं कि प्रसन्नता अपने स्वयं में अन्त है ? या प्रज्ञा के साथ जीने में यह किसी गौण वस्तु की भांति है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैं सोचता हूँ कि यह स्वम् में अन्त है क्योंकि अगर प्रसन्नता है तो आप जो कुछ भी करेगें उसमें सामजस्य होगा; तब आप बिना प्रयत्न

और वैमनस्य के सहजता से कार्य करेगें। मुझे पक्का विश्वास है कि आप इस प्रसन्नता के साथ जो भी करेगें वह उचित ही होगा।

कृष्णमूर्ति :—पर क्या यह ऐसा है ? क्या प्रसन्नता स्वम् में अन्त है। सद्‌गुण स्वयं में अन्त नहीं है। अगर है तो यह बहुत ही तुच्छ बात है। क्या आप प्रसन्नता की तलाश कर सकते हैं ? अगर आप करते हैं तब हर प्रकार की विभ्रान्तियों एवं आसक्तियों में शायद आप इसकी अनुकृति ही पायेगें। यह तो सुख है। सुख और प्रसन्नता में क्या सम्बन्ध है ?

प्रश्नकर्त्ता :—मैंने कभी भी अपने आपको यह नहीं पूछा।

कृष्णमूर्ति :—जिस सुख का हम पीछा करते हैं उसे गलती से प्रसन्नता कहा जाता है। पर क्या आप प्रसन्नता का पीछा कर सकते हैं, जैसे आप सुख का पीछा करते हैं ? क्या सुख प्रसन्नता है, यह हमें अवश्य स्पष्ट होना चाहिए। सुख तो परितोष है, तृप्ति, आसक्ति, मनोरंजन तथा उत्तेजना है। अधिकांश यह सोचते हैं कि सुख ही प्रसन्नता है, महानतम सुख को महानतम प्रसन्नता मानते हैं। प्रसन्नता क्या अप्रसन्नता का विपरीत है ? क्योंकि आप अप्रसन्न और अतृप्त हैं, इसलिए आप प्रसन्न होने का प्रयत्न करते हैं ? क्या प्रसन्नता का कोई विपरीत है ? क्या प्रेम का कोई विपरीत है ? क्या प्रसन्नता के बारे में आप का प्रश्न अप्रसन्न होने का परिणाम है ?

प्रश्नकर्त्ता :—शेष संसार की तरह मैं भी अप्रसन्न हूँ और स्वभावतः मैं यह नहीं चाहता, और यही चीज मुझे प्रसन्नता की तलाश करने को प्रेरित करती है।

कृष्णमूर्ति :—अतः आप के लिए प्रसन्नता तो अप्रसन्नता का विपरीत ही है। अगर आप प्रसन्न होते तो इसकी तलाश न करते। अतः जो बात महत्त्वपूर्ण है वह प्रसन्नता नहीं है बल्कि क्या अप्रसन्नता का अन्त हो सकता है। यही वास्तविक समस्या है, या नहीं ? आप प्रसन्नता के बारे में प्रश्न पूछते हैं क्योंकि आप अप्रसन्न हैं, और आप यह प्रश्न पूछते हैं बिना यह पता लगाए कि क्या प्रसन्नता अप्रसन्नता का विपरीत है।

प्रश्नकर्त्ता :—अगर आप इसे इस तरह से प्रस्तुत करते हैं तो मुझे स्वीकार्य है। जिस व्यथा में मैं हूँ उससे मुक्त होने से ही मेरा सरोकार है।

कृष्णमूर्ति :—अधिक महत्त्वपूर्ण क्या है—अप्रसन्नता को समझना या प्रसन्नता का पीछा करना ? अगर आप प्रसन्नता प्राप्त करने के पीछे लगते हैं तो यह

अप्रसन्नता से पलायन बन जाता है और इसीलिये वह हमेशा रहेगी, शायद ढकी हुई, छिपी हुई और अन्दर कटुता उत्पन्न करती हुई। तो अब आप का क्या प्रश्न है?

प्रश्नकर्त्ता :—मेरा प्रश्न है कि मैं व्यथित क्यों हूँ? आपने बहुत सफाई से मेरी वास्तविक अवस्था की ओर संकेत किया है, अपेक्षाकृत इसके कि जो मैं चाहता हूँ वह उत्तर दिया जाये। अब, मेरे सामने यह प्रश्न है: जिस व्यथा में मैं हूँ उससे छुटकारा कैसे हो?

कृष्णमूर्ति :—क्या बाह्य ऐजेन्सी आपको अपनी व्यथा से छुटकारा दिलवाने में सहायता कर सकती है, चाहे यह बाह्य ऐजेन्सी भगवान ही हो, सिद्ध पुरुष, औषधि या उद्धारक ही हो? या फिर इस अप्रसन्नता के स्वभाव को समझने की और उससे तत्क्षण निपटने की आपके पास प्रज्ञा हो?

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह सोंचकर आपके पास आया हूँ कि शायद आप मेरी सहायता करें, तो आप स्वयं को भी तो बाह्य ऐजेन्सी कह सकते हैं। मुझे सहायता चाहिए और मुझे कोई परवाह नहीं है कि कौन देता है।

कृष्णमूर्ति :—सहायता देने या स्वीकार करने में बहुत सी बातें नीहित हैं। अगर आप विवेकशून्यता से स्वीकार करते हैं तो आप इस या उस सत्ता के जाल में फँस जायेंगे जो अपने साथ विभिन्न समस्याएँ लाती हैं जैसे आज्ञापालन और भय। अगर आप सहायता की चाहत से शुरू करते हैं तो आपको न केवल सहायता ही नहीं मिलती क्योंकि कोई भी किसी तरह की आपकी सहायता नहीं कर सकता—पर साथ में मिलती है कई समस्याओं की शृंखला—तो आप पहले से भी अधिक दलदल में पड़ गये।

प्रश्नकर्त्ता :—मेरे ख्याल से मैं इसे समझता हूँ और मान भी लेता हूँ। मैंने इसे पहले कभी इतनी स्पष्टता से नहीं सोंचा। आप बतायें कि अप्रसन्नता से निबटने के लिए, और वह भी तत्काल, मैं अपने आप प्रज्ञा का विकास कैसे कर सकता हूँ? अगर मेरे पास प्रज्ञा होती तो अवश्य ही मैं यहाँ न होता और आप को सहायता के लिए न कहता। अतः अब मेरा प्रश्न है कि क्या मैं यह प्रज्ञा पा सकता हूँ ताकि अप्रसन्नता की मेरी समस्या सुलझ जाए और साथ ही मैं प्रसन्नता को पा लूँ?

कृष्णमूर्ति :—आप कह रहे हैं कि यह प्रज्ञा अपनी क्रिया से कोई अलग चीज है। इस प्रज्ञा की क्रिया ही समस्या का अवलोकन एवं समझ है। यह दोनों अलग और अनुक्रमिक नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि आप को पहले प्रज्ञा प्राप्त होगी और फिर इसे आप किसी उपकरण की तरह समस्या पर प्रयोग करेंगे। ऐसा कहना सोच-विचार की रुग्णता है कि पहले सामर्थ्य और फिर प्रयोग, पहले सिद्धान्त और फिर उसका उपयोग। यह प्रज्ञा की अनुपस्थिति है और समस्या की शुरूआत है। यह विखण्डन है। हम इसी तरह से जीते हैं और प्रसन्नता और अप्रसन्नता, घृणा और प्रेम, की बातें करते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—शायद यह भाषा के ढाँचे में ही अन्तर्निष्ठ है।

कृष्णमूर्ति :—शायद यही हो, पर चलिए यहाँ हम इस बात का अधिक बतंगड़ नहीं बनाते ताकि हम अपने विषय से दूर न भटक जाएँ। हम कह रहे हैं कि प्रज्ञा और प्रज्ञा की क्रिया—जो अप्रसन्नता की समस्या का अवलोकन है—अभाज्य रूप से एक हैं। और यह अप्रसन्नता का अन्त करने से या प्रसन्नता प्राप्त करने से अलग नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे यह प्रज्ञा कैसे प्राप्त होगी ?

कृष्णमूर्ति :—हम जो कह रहे हैं उसे क्या आपने समझा ?

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ।

कृष्णमूर्ति :—अगर आपने समझा है तो आपने देखा कि यह अवलोकन ही प्रज्ञा है। आप जो कर सकते हैं वह है मात्र अवलोकन; अवलोकन के लिए आप प्रज्ञा को पैदा नहीं कर सकते। अवलोकन कभी भी प्रज्ञा का सम्वर्धन नहीं है। प्रज्ञा या प्रसन्नता या अप्रसन्नता के बजाए अवलोकन अधिक महत्त्वपूर्ण है। वहाँ या तो केवल अवलोकन है या नहीं है। और शेष सब जैसे प्रसन्नता; अप्रसन्नता व प्रज्ञा—तो मात्र शब्द हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—तब यह अवलोकन करना क्या है ?

कृष्णमूर्ति :—अवलोकन का अर्थ है यह समझना कि विचार विपरीतों का कैसे सृजन करता है। विचार जिसका सृजन करता है वह वास्तविकता नहीं है। अवलोकन का अर्थ है विचार, स्मृति, द्वन्द्व और आदर्शों के स्वभाव को

समझना; इनको पूर्ण प्रक्रिया के रूप में देखना ही समझना है; यह प्रज्ञा है; पूर्णता से देखना प्रज्ञा है; खण्डित रूप से देखना प्रज्ञा का अभाव है।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं थोड़ा सा यहाँ चकरा गया हूँ। मेरे ख्याल से मैं इसे समझता तो हूँ पर है यह बहुत विरल व सूक्ष्म। मुझे धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए आप जो कह रहे हैं वह है : पूर्णतः देखो और सुनो। आप कहते हैं कि यह सावधानी ही प्रज्ञा है और आप यह भी कहते हैं कि यह तत्काल होनी चाहिए। आप कहते हैं कि "हम केवल **अब** और **अभी** अवलोकन कर सकते हैं"। मुझे नहीं लगता कि मैं अब और अभी अवलोकन करता हूँ, या मैं घर जाकर—आपने जो कुछ कहा—उसे सोचूँगा यह उम्मीद रखते हुए कि बाद में देख लूँगा ?

कृष्णमूर्ति :—तब आप कभी भी नहीं देखेंगे; इसके बारे में यदि आप सोचने की बात करेगें तो कभी भी नहीं देखेगें, क्योंकि सोच-विचार तो अवलोकन में बाधा डालता है। हम दोनों ने समझ लिया है कि अवलोकन से क्या तात्पर्य है। यह अवलोकन कोई सार या, अमूर्तिकरण या फिर कोई धारणा नहीं है। अगर देखने के लिए कुछ नहीं है तब आप देख नहीं सकते। आप की समस्या तो अप्रसन्नता की है। इसे पूर्णतः देखो, प्रसन्न होने की अपनी चाहत को भी देखो तथा विचार कैसे विपरीतों का सृजन करता है उसे भी देखो। प्रसन्नता की खोज और प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए सहायता की तलाश को भी देखो। विफलता, आशा और भय भी देखो। यह सब सम्पूर्णता से, समग्र रूप में देखा जाना चाहिए, अलग-अलग नहीं। इस सबको अब और अभी देखो। अपना समस्त ध्यान इस पर दो।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं तो अभी भी चकराया हुआ हूँ। मुझे मालूम नहीं कि मैंने इसके तत्त्व को, समस्त विषय को, समझा है अथवा नहीं। मैं आँखें बन्द कर स्वयं इसकी जाँच पड़ताल करना चाहता हूँ यह देखने के लिए कि क्या वस्तुतः मैंने इसे समझा है। अगर समझ लिया हैं, तब तो मेरी समस्या हल हो गई।

●

26

सीखना

प्रश्नकर्त्ता :—आपने अक्सर सीखने के विषय में बातें की हैं। मैं पूर्णरूपेण नहीं जानता कि आपका क्या अभिप्राय है। हमें सीखने के लिए पाठशाला और विश्वविद्यालय में शिक्षा दी जाती है, और जिन्दगी हमें काफी कुछ सिखलाती है—अपने परिवेश, अपने पड़ोसी, अपने पती या पत्नी और बच्चों से स्वयं को समायोजित करना। लगभग हर वस्तु से हम सीखते से जान पड़ते हैं, पर मुझे दृढ़ विश्वास है कि जब आप सीखने के विषय में बात करते हैं तो आपका अभिप्राय यह नहीं होता, क्योंकि आप तो अनुभव को शिक्षक के रूप में भी नकारते से प्रतीत होते हैं। पर जब आप अनुभव को भी नकारते हैं, तो क्या आप सभी तरह के सीखने को नहीं नकारते ? आखिरकार तकनीकी तथा मानवीय नित्य जीवन, इन दोनों क्षेत्रों में, जो कुछ हम जानते हैं, वह अनुभव द्वारा ही सीखते हैं। अतः क्या हम इस प्रश्न की जाँच-पड़ताल करें ?

कृष्णमूर्ति :—अनुभव द्वारा सीखना एक बात है—यह तो प्रतिबद्धता का संचय है—और हर समय का सीखना, केवल वास्तविक वस्तुओं को ही नहीं पर स्वयं के बारे में भी सीखना काफी भिन्न बात है। संचयन से प्रतिबद्धता होती है—यह हम जानते हैं—और यहाँ हम सीखना विषय में बात कर रहे हैं। यह सीखना प्रेक्षण है, बिना संचय के प्रेक्षण करना, मुक्ति में प्रेक्षण करना। यह प्रेक्षण अतीत द्वारा निर्देशित नहीं है। इन दोनो बातों को हमें स्पष्ट रखना चाहिए।

अनुभव से हम क्या सीखते हैं? भाषाएँ, कृषि, सभ्याचार, चन्द्रमा पर जाना, चिकित्साशास्त्र, गणित. ऐसी चीजे तो हम सीखते हैं। पर युद्ध करने से क्या हमने युद्ध के विषय में सीखा है? हमने ज्यादा दक्षता से घातक युद्ध करना तो सीख लिया है, पर हमने युद्ध न करना नहीं सीखा। युद्ध-कला ने मानव जाति के जीवित रहने को ही खतरे में डाल दिया है। सीखना क्या इसी को कहते हैं? आप एक बेहतर घर बना सकते हैं, पर क्या अनुभव ने इसके अन्दर कुलीनता से कैसे रहना चाहिये है यह सिखलाया है? अनुभव से हमने सीखा है कि आग वस्तु को जलाती है और यह हमारी प्रतिबद्धता बन जाती है, लेकिन प्रतिबद्धता से हमने यह भी तो सीखा है कि राष्ट्रवाद अच्छा है। परन्तु अनुभव को यह भी तो सिखलाना चाहिये था की राष्ट्रवाद घातक है। इसके सभी प्रमाण मौजूद हैं। प्रतिबद्धता पर आधारित धार्मिक अनुभव ने मनुष्य को मनुष्य से जुदा कर दिया है। अनुभव ने बेहतर भोजन, बेहतर कपड़े, बेहतर मकान का होना तो सिखलाया है, पर उसने यह नहीं सिखलाया कि सामाजिक अन्याय मनुष्य एवं मनुष्य के बीच उचित सम्बन्धो में रूकावट डालता है। हमारे पूर्वाग्रहों, अनोखी प्रवृत्तियों, हमारे विशिष्ट धर्ममतों और विश्वासों को यह अनुभव ही प्रतिबद्ध करता है और मजबूत भी बनाता है। यह सब कितनी मूर्खतापूर्ण बकवास है, जो हम कभी नहीं सीखते; अन्य व्यक्तियों से उचित सम्बन्धों में जीना हमने कहाँ सीखा है? उचित सम्बन्ध ही तो प्रेम है। समाज और अन्य परिवारों के विपरीत अपने परिवार को एक इकाई रूप में बलशाली बनाना ही अनुभव ने हमें सिखाया है। इससे कलह और विभाजन आता है, जिससे परिवार को रक्षात्मक रूप से शक्तिशाली बनाना सर्वदा महत्त्वपूर्ण बन जाता है। अतः यह कुचक चलता रहता है। हम संचय करते हैं और इसे "अनुभव से सीखना" कहते हैं। पर यह सीखना अधिकाधिक विखण्डन-सर्कीणता और विशेषज्ञता लाता है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप तक्नीकी जानकारी और अनुभव के विरूद्ध, विज्ञान व समस्त संचित ज्ञान के विरूद्ध, आवाज उठा रहे हैं ? अगर हम इन सबसे पीठ मोड़ लें तो हम जंगलीपन की ओर लौट जायेंगे।

कृष्णमूर्ति :—नहीं, मैं इनके विरूद्ध बिलकुल भी आवाज नहीं उठा रहा हूँ। मेरे विचार से हम एक दूसरे को गलत समझ रहे हैं। हमने कहा था कि दो प्रकार का सीखना होता है : अनुभव द्वारा संचय करना और इस संचयन से क्रिया करना, जो अतीत है, और जो नितान्त आवश्यक है जहाँ कहीं ज्ञान की क्रिया जरूरी है। हम इसके विरूद्ध नहीं हैं; यह बहुत अनर्गल होगा।

प्रश्नकर्त्ता :—गान्धी ने ज़ीवन से मशीन को बाहर रखने की कोशिश की तथा "गृह उद्योग" या "कुटीर उद्योग" का धन्धा भारत में शुरू किया, लेकिन फिर भी आधुनिक मशीन वाले यातायात के साधनों का उन्होने प्रयोग किया। उनकी स्थिति की अननुरूपता व पाखण्ड इसी से प्रकट होता है।

कृष्णमूर्ति :—हमें अपनी वार्ता से दूसरों को बाहर रखना चाहिये। हम कह रहे हैं कि दो प्रकार का सीखना है—पहला, अनुभव एवं ज्ञान के संचय से क्रिया; दूसरा, बिना संचयन के क्रिया, परंतु जीने की क्रिया में ही हर समय सीखना। तक्नीकी विषयों में पहली क्रिया नितान्त आवश्यक है, पर सम्बन्ध तथा आचरण तो तक्नीकी मामले नहीं हैं, यह तो जीवित वस्तुएँ हैं, और आपको इनके विषय में हर समय सीखना है। आपने आचरण के बारे में जो कुछ सीखा है अगर आप उससे क्रिया करते हैं, तब क्रिया यान्त्रिक हो जाती है और इसी वजह से सम्बन्ध नित्यक्रम बन जाता है।

यहाँ एक और भी महत्वपूर्ण बात है : सभी सीखने की क्रिया जो संचयन और अनुभव पर आधारित है, उसकी कार्यकुशलता का निर्धारण लाभ द्वारा होता है। और जब मानव-सम्बन्धों में लाभ का प्रयोजन सक्रिय हो जाता है तब यह उन सम्बन्धों का विनाश कर देता है क्योंकि यह पृथक्करण और विभाजन लाता है। जब मानव-आचरण के क्षेत्र में, मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में, अनुभव की जानकारी एवं संचय प्रवेश कर जाते हैं तब यह अनिवार्यत: विनाश करेंगे। प्रबुद्ध स्वार्थ एक तरफ तो प्रगति है पर दूसरी तरफ अनिष्ट, दुष्टता, व्यथा एवं अस्तव्यस्तता का आसन है। जहाँ किसी भी प्रकार का स्वार्थ है वहाँ मानव सम्बन्ध पुष्पित तो हो ही नहीं सकता और इसी कारण जहाँ यह अनुभव और स्मृति से संचालित होता है वहाँ भी मानव-सम्बन्ध पुष्पित नहीं हो सकता।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह तो समझता हूँ, पर क्या धार्मिक अनुभव कुछ इससे अलग बात नहीं है ? मैं यहाँ धार्मिक मामलों में एकत्रित एवं हस्तान्तरित किये गये अनुभवों की बातें कर रहा हूँ—गुरुओं और सन्तों के अनुभव, दार्शनिकों के अनुभव। हमारी अज्ञानता के बीच इस प्रकार के अनुभव क्या लाभदायक नहीं होंगे ?

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल नहीं ! सन्त तो समाज द्वारा सम्मानित होता है तथा वह समाज की सन्तत्व की धारणाओं का अनुनय करता है, अन्यथा वह सन्त नहीं कहा जायेगा। इसी प्रकार, गुरु भी मान्य होना चाहिए अपने अनुयायिओं द्वारा जो परम्परा से प्रतिबद्ध हैं। अतः गुरु और चेला दोनों ही जिस विशिष्ट समाज में रहते हैं उसकी सांस्कृतिक और धार्मिक प्रतिबद्धता के हिस्से हैं। जब वह दावा करते हैं कि यथार्थ—जिसे वह जानते हैं—से उनका सम्पर्क हुआ है, तब आपको जानना चाहिए कि जो वह जानते हैं वह यथार्थ नहीं है। जो व्यक्ति कहता है कि वह जानता है वह नहीं जानता। तथाकथित सभी धार्मिक अनुभवों में पहचान की संज्ञात्मक प्रक्रिया अन्तर्निष्ट है। आप केवल उसी को पहचान सकते हैं जिसे आपने पहले से जाना हो, अतः यह अतीत का ही हुआ। अतः यह काल-बाध्य है, कालातीत नहीं है। तथाकथित धार्मिक अनुभव आपको लाभ नहीं पहुँचाता। आपकी विशिष्ट परम्परा, अभिरुचि, प्रवृत्ति तथा आकांक्षा के अनुसार, मात्र आपको प्रतिबद्ध करता है, इसीलिए हर प्रकार की भ्रांति व पृथक्करण को बढ़ावा देता है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आपके कहने का तात्पर्य है कि हम वास्तविकता का अनुभव नहीं कर सकते ?

कृष्णमूर्ति :—अनुभव करने में निहितार्थ है कि वहाँ एक अनुभवकर्ता होना चाहिए और यह अनुभवकर्ता सभी प्रतिबद्धताओं का सार है। जो वह अनुभव करता है वह तो पहले से ही ज्ञात है।

प्रश्नकर्त्ता :—जब आप अनुभवकर्ता की बात करते हैं तो आपका क्या अभिप्राय है ? अगर कोई अनुभवकर्ता नहीं है तो आपका अर्थ है कि आप अदृश्य हो जाते हैं ?

कृष्णमूर्ति :—निसन्देह। "आप" अतीत हैं और जब तक वहाँ "आप" रहता है या "अहम" रहता है तब तक वह नहीं हो सकता जो असीम है। "अहम"

अपने उथले-पुथले छोटे से मानस एवं अनुभव और ज्ञान, ईर्ष्याओं, चिन्ताओं से बोझिल हृदय सहित— ऐसी इकाई को कैसे समझ सकता है जिसका न कोई आदि है और न कोई अन्त, जो प्रहर्ष है ? अपने आपको जानना से शुरू करो। अपने को समझो।

कृष्णमूर्ति :—क्या अनुभवकर्ता अपने अनुभवों से भिन्न है ? क्या चुनौती उस चुनौती की प्रतिक्रिया से भिन्न है ?

प्रश्नकर्ता :—अनुभवकर्ता ही अनुभव है, अन्यथा वह अनुभव को पहचान नहीं सकता और उसे अनुभव भी नहीं कहता; इससे पहले की वह उसे पहचाने, यह अनुभव पहले से ही उसमें है। अतीत सदैव क्रियाशील रहता है और स्वयं को पहचानता है; नवीन तो प्राचीन द्वारा निगल लिया जाता है। ऐसे ही प्रतिक्रिया भी चुनौती को निर्धारित करती है, चुनौती ही प्रतिक्रिया है, यह दोनों अलग नहीं है; बिना प्रतिक्रिया के कोई चुनौती होगी ही नहीं। अतः अनुभवकर्ता का अनुभव, या चुनौती की प्रतिक्रिया, जो अनुभवकर्ता से होती है, प्राचीन है, क्योंकि वह अनुभवकर्ता द्वारा निर्धारित है। अगर आप इसके बारे में सोचें, तो पायेंगे कि "अनुभव" शब्द का अर्थ है किसी वस्तु में से गुजरना, उसको पूर्ण करना और उसका भण्डारण न करना पर जब हम अनुभव की बात करते हैं तो हमारा अर्थ उसके विपरीत से होता है। प्रत्येक समय जब आप अनुभव की बात करते हैं तो आप संग्रहीत वस्तु की ही बात करते हैं जिससे क्रिया का उद्भव होता है, आप बात करते हैं उस वस्तु की जिससे आपने आनन्द प्राप्त किया है, अतः इसकी दुबारा मांग करते हैं और अगर आपने इसे नापसन्द किया है तो इसकी पुनरावृत्ति से आपको भय लगता है।

अतः वास्तव में जो जीना है वह बिना संचयी प्रक्रिया के सीखना है।

●

27

आत्माभिव्यक्ति

प्रश्नकर्त्ता :—अभिव्यक्ति मुझे काफी महत्त्वपूर्ण जान पड़ती है। एक कलाकार की तरह मुझे अभिव्यक्ति करनी पड़ती है अन्यथा मेरा दम घुटने लगता है और मैं कुण्ठित होता महसूस करता हूँ। अभिव्यक्ति हमारे अस्तित्व का अंश है। कलाकार होने के नाते मेरे लिए स्वयं को अभिव्यक्त करना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि किसी आदमी का औरत के प्रति शब्दों या इशारों में प्रेम अभिव्यक्त करना। पर इस सब अभिव्यक्ति में एक प्रकार की पीड़ा है जिसे मैं समझ नहीं पाता। मेरे विचार से अधिकांश कलाकार मुझसे सहमत होंगे कि कैन्वस पर या किसी और माध्यम में अपने गहनतम मनोभावों को अभिव्यक्त करने में बहुत ही गहरा द्वन्द्व है। मुझे लगता है कि क्या हम कभी भी इस पीड़ा से मुक्त हो सकते हैं, या अभिव्यक्ति सदैव पीड़ा ही लाती है ?

कृष्णमूर्ति :—अभिव्यक्ति की आवश्यकता ही क्यों है, और इसमें दुःख कहाँ से आ जाता है ? अधिकाधिक गहराई से, मनमाने ढंग से, तथा पूर्ण रूप से

अभिव्यक्त करने का क्या आप हमेशा प्रयत्न नहीं करते रहते और फिर अभिव्यक्ति से क्या आप कभी अघाते भी हैं ? गहन मनोभाव और उसकी अभिव्यक्ति दोनों एक समान नहीं है; दोनों में विशाल अन्तर है। जब अभिव्यक्ति तीव्र मनोभाव के अनुरूप नहीं होती तब हमेशा कुण्ठा होती है। अपने मनोभावों को कलाकार जो उक्तियाँ देता है उनकी अपर्याप्तता के प्रति असन्तोष ही शायद पीड़ा का एक कारण है। इसी में द्वन्द्व है, और द्वन्द्व ऊर्जा का क्षय है। कलाकार में एक तीव्र मनोभाव होता है जो काफी प्रामाणिक है; इसे वह कैन्वस पर अभिव्यक्त करता है। यह अभिव्यक्ति कुछ लोगों को रिझाती है और वे उसकी कलाकृति को खरीद लेते हैं; उसको धन व प्रतिष्ठा मिलती है। उसकी अभिव्यक्ति पर ध्यान दिया जाता है और वह लोकप्रिय बन जाती है। वह इसे परिष्कृत करता है; इसके पीछे लगा रहता है, इसका विकास करता है और इस तरह हर समय अपना ही अनुकरण किया करता है। यह अभिव्यक्ति अभ्यासजनित तथा किसी एक शैली के अनुसार बन जाती है; अभिव्यक्ति अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण बनती जाती है और अन्ततः मनोभाव से भी अधिक महत्त्वपूर्ण; अन्ततोगत्वा मनोभाव वाष्पित हो जाता है। कलाकार के पास अब सफल कलाकार होने के सामाजिक परिणाम बचते हैं—प्रदर्शनी और कलाभवनों का बाजार—स्थल, पारखी, आलोचक; जिस समाज के लिए वह चित्रकारी करता है उसके द्वारा वह दास बना लिया जाता है। मनोभाव तो कब का अदृश्य हो चुका है, बाकी बचती है अभिव्यक्ति की थोथी सीपी। फलस्वरूप यह अभिव्यक्ति भी अन्ततः अपना आकर्षण खो बैठती है क्योंकि अभिव्यक्त करने के लिए कुछ बचता नहीं। यह मात्र इशारा है, बिना अर्थवाले शब्द हैं। यह समाज की विनाशकारी प्रक्रिया का अंश है। यह अच्छाई का विनाश है।

प्रश्नकर्त्ता :—बिना अभिव्यक्ति में खोए क्या मनोभाव बने नहीं रह सकते ?

कृष्णमूर्ति :—जब अभिव्यक्ति ही अति महत्त्वपूर्ण बन जाती है, क्योंकि यह सुखद, सन्तोषजनक तथा लाभप्रद है, तब अभिव्यक्ति और मनोभाव में विभेद आ जाता है। जब मनोभाव ही अभिव्यक्ति है तब द्वन्द्व नहीं उठता, इसमें कोई विसंगति नहीं रहती और इसीलिए वहाँ द्वन्द्व नहीं हैं। पर जब लाभ और विचार हस्तक्षेप करते हैं तब यह मनोभाव लालच में विलीन हो जाता

है। मनोभाव का आवेश अभिव्यक्ति के आवेश से सर्वथा भिन्न है और अधिकांश लोग अभिव्यक्ति के आवेश में फँसे हुए हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या इस लोभ की लहर में बिना उलझे मैं जी सकता हूँ ?

कृष्णमूर्ति :—अगर मनोभाव महत्त्वपूर्ण है तो आप अभिव्यक्ति के बारे में कभी नहीं पूछेंगे। या तो आप के पास मनोभाव है या नहीं है। अगर आप अभिव्यक्ति के बारे में पूछ रहे हैं तो आप कृतित्व के बारे में नहीं वरन् उसके लाभ के बारे में पूछ रहे हैं। कृतित्व तो वह है जिसके बारे में आप सोचते-विचारते नहीं, यह तो जीवन है।

प्रश्नकर्त्ता :—तो जीना क्या है ? अस्तित्व में होना क्या है, उस मनोभाव का होना जो स्वयं में परिपूर्ण है ? अब मुझे समझ में आ गया है कि अभिव्यक्ति तो विषय से अलग है।

कृष्णमूर्ति :—यह बिना द्वन्द्व के जीना है।

28
आवेग

प्रश्नकर्त्ता :—आवेग क्या है ? आपने इसके विषय में वार्तालाप किया है और आप इसे एक विशेष अर्थ देते हैं। मैं नहीं सोचता हूँ कि मैं इसके अर्थ को जानता हूँ। हर आदमी की तरह मुझमें कामुकता और सतही चीजों के लिए आवेग है, जैसे तेजी से गाड़ी चलाना या सुन्दर बगीचे का विकास करना। हममें से अधिकांश आवेगात्मक कार्यकलाप के किसी-न-किसी रूप में आसक्त हैं। आप किसी व्यक्ति से उसके आवेग की बातें करें तो आप उसकी आँखें चमकती हुई देखेंगें। हम जानते हैं कि आवेग शब्द ग्रीक शब्द "दुःख का भोगना" से निकला है, पर जब आप इस शब्द का प्रयोग करते हैं तो मुझे जो एहसास होता है वह दुःख का नहीं बल्कि प्रेरक गुण का है जो पश्चिम से गरजती हुई हवा के समान है, अपने सामने आते हुए बादलों और कूड़ा-करकट को खदेड़ते हुए जोरों से आगे बहते जाना। मैं ऐसे आवेग को अपने पास रखना चाहूँगा। मै इस तक कैसे पहुँचूँ ? यह आवेग है किस लिए ? आप के लिए आवेग का क्या अर्थ है ?

कृष्णमूर्ति :—वासना और आवेग दो भिन्न वस्तुएँ हैं, मेरे विचार से हमें यह स्पष्ट होना चाहिए। वासना तो विचार से पोषित है, यह विचार द्वारा प्रेरित है और यह तब तक विचार में ही विकसित होती रहती है और सत्त्व को एकत्रित करती है जब तक कि यह कामुकता में विस्फोटित न हो जाए या फिर अगर यह सत्ता की वासना है तो अपनी ही पूर्ति के हिंसक रूपों में। और आवेग तो बिलकुल ही अलग चीज है, न तो यह विचार का उत्पादन है और न ही अतीत की घटनाओं का स्मरण; यह पूर्ति के किसी भी प्रयोजन से चलायमान नहीं है और यह दुःख भी नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या सभी कामुकता का आवेग वासना है? काम की अनुक्रियाएँ सदैव तो विचार का परिणाम नहीं हैं; यह सम्पर्क भी हो सकता है, जैसे, आप अचानक ही किसी से मिलते हैं और उसकी रमणीयता आपको मोह लेती है।

कृष्णमूर्ति :—जहाँ कहीं भी विचार सुख की प्रतिमा बना लेता है तो यह अनिवार्यतः वासना है न कि आवेग की मुक्ति। अगर सुख ही मुख्य प्रेरक है तो यह वासना है। जब कामुक मनोभाव सुख से उपजते हैं तो यह वासना है। यदि यह प्रेम से उपजा है तब तो यह वासना नहीं है, यद्यपि इसमें महान् हर्ष विद्यमान है। यहाँ हमें स्पष्ट होना चाहिए और स्वयं के लिए पता लगाना चाहिए कि क्या प्रेम कभी सुख और आनन्द को वर्जित करता है। जब आप बादल देखते हैं और इसकी विशालता और इस पर फैले हुए प्रकाश से हर्षित होते हैं, तो निःसंदेह यह सुख तो है ही किन्तु सुख से भी अधिक कुछ और भी है। हम इसकी निन्दा बिल्कुल भी नहीं कर रहे हैं। अगर आप उत्तेजना के लिए विचार में या वास्तविक तौर पर बादल पर लौटते रहते हैं, तब तो आप मोह की काल्पनिक उड़ान में आसक्त हैं, और स्पष्ट है कि यहाँ पर सुख और विचार ही प्रेरणा के श्रोत हैं जो क्रियाशील हैं। जब आपने पहले-पहल बादल और उसके सौन्दर्य को देखा तो सुख का कोई प्रेरक वहाँ चलायमान नहीं था। "अहम" और अहंकार की अनुपस्थिति ही काम-क्रिया का सौन्दर्य है, परंतु काम-क्रिया का विचार इस अहंकार की अभिपुष्टि है, और यही सुख है। यह अहंकार हर समय या तो सुख की तलाश करता है या पीड़ा से बचता है, संतुष्ट होना चाहता है और इसी से कुण्ठा को आमंत्रित करता है। इन सब में आवेग का एहसास सर्वदा विचार द्वारा पोषित होता

है और विचार द्वारा ही पीछा किया जाता है, और इसलिये यह आवेग नहीं है बल्कि केवल सुख। स्मरणित आवेग की आशा तथा उसका पीछा करना ही सुख है।

प्रश्नकर्त्ता :—तब आवेग खुद है क्या ?

कृष्णमूर्ति :—आवेग का सरोकार तो आनन्द और प्रहर्ष से है, जो सुख नहीं हैं। सुख में सदैव प्रयास, तलाश, होड़ या अपेक्षा का सूक्ष्म रूप निहित रहता है तथा इसको प्राप्त करने का और अपने पास रखने का संघर्ष। आवेग में कोई माँग नहीं होती, अतएव वहाँ संघर्ष भी नहीं है : आवेग में पूर्ति की कोई हल्की सी भी छाया नहीं रहती, इसी कारण इसमें न तो कुण्ठा है और न ही पीड़ा। आवेग "अहम" से, जो पूर्ति और पीड़ा का केन्द्र है, मुक्ति है। आवेग कोई अपेक्षा नहीं करता क्योंकि यह है; मैं यहाँ किसी गतिहीन वस्तु की बात नहीं कर रहा हूँ। आवेग आत्म-त्याग की तपस्या है जिसमें न तो "आप" हैं, और न "मैं"; अतएव आवेग जीवन का सार है। यही गतिशील है और जीवित है। पर जब विचार चीज को रखने और थामे रहने की सभी समस्याएँ पैदा करता है, तभी आवेग समाप्त हो जाता है। आवेग के विना सृजन कभी भी सम्भव नहीं है।

प्रश्नकर्त्ता :—सृजन से आपका क्या अभिप्राय है ?

कृष्णमूर्ति :—मुक्ति।

प्रश्नकर्त्ता :—कौन सी मुक्ति ?

कृष्णमूर्ति :—"अहम" से मुक्ति, जो परिवेश पर निर्भर रहती है और परिवेश की उपज है—वह "अहम" जो समाज और विचार द्वारा बनाया जाता है। यह मुक्ति ही स्पष्टता है, वह ज्योति है जो अतीत से प्रज्ज्वलित नहीं है ! केवल वर्तमान ही आवेग है।

प्रश्नकर्त्ता :—इसने तो मुझे एक अजीब नये मनोभावों से उद्दीप्त कर दिया है।

कृष्णमूर्ति :—वह सीखने का आवेग है।

प्रश्नकर्त्ता :—मेरे प्रतिदिन के जीवन में कौन सी क्रिया यह सुनिश्चित करेगी कि यह आवेग ज्वलित है व सक्रिय है।

कृष्णमूर्ति :—यह कुछ भी सुनिश्चित नहीं कर सकता सिवाय सीखने की अवधानता के, जो क्रिया है, जो अब है, अभी है। इसी में आवेग का सौन्दर्य है, जो "अहम" और अपने समय का पूर्ण परित्याग है।

29

व्यवस्था

प्रश्नकर्त्ता :—आपके उपदेशों में तो हजारों विस्तृत विवरण हैं। इन सबको अपने जीवन में किसी एक क्रिया में लाने के लिए मुझे समर्थ होना है ताकि जो कुछ मैं करूँ इन सबमें वह व्याप्त हो, क्योंकि मेरे जीवन में ठीक मेरे सामने अब एक ही क्षण है जिसमें क्रिया करनी है। प्रतिदिन के जीवन में वह कौन सी अकेली एक क्रिया है जो आपके उपदेशों के विस्तृत विवरणों को मात्र एक विन्दु पर ले आयेगी, जैसे कि एक उल्टा पिरामिड एक बिन्दु पर केन्द्रित होता है ?

कृष्णमूर्ति :—…… ……… खतरनाक !

प्रश्नकर्त्ता :—या फिर इसे अलग ढंग से हम प्रस्तुत करते हैं कि वह कौन सी एक क्रिया है जो जीवन की पूर्ण प्रज्ञा को एक क्षण में वर्तमान में केन्द्रीभूत कर देगी ?

कृष्णमूर्ति :—मेरे विचार से प्रश्न को इस प्रकार से पूछा जाना चाहिये कि बगैर किसी अस्तव्यस्तता अथवा बगैर व्यथा अथवा समायोजन के, एक वास्तविक प्रज्ञावान, सन्तुलित, सक्रिय तथा अन्य व्यक्तियों के साथ सामंजस्य सहित सम्बन्धों में रहते हुए जीवन जीयें तो कैसे जीयें ? वह कौन सी एक क्रिया है जो प्रज्ञा का आह्वाहन करेगी ताकि आप जो कुछ कर रहे हैं इसमें क्रियाशील हो सके ? दुनिया में कितनी व्यथा, दुःख और गरीबी है। इन सब मानवीय समस्याओं का सामना करते हुए, मानव होने के नाते आप क्या करेंगे ? अगर आप अपनी ही पूर्ति के लिए दूसरों की सहायता करने के अवसर का उपयोग करते हैं तब तो यह शोषण है, मक्कारी है। अतः शुरू से ही हम इसे अलग रख सकते हैं। वस्तुतः प्रश्न तो यह है कि बिना किसी प्रकार के प्रयत्न के हम कैसे अत्यन्त प्रज्ञावान, व्यवस्थित जीवन जी सकते हैं ? ऐसा जान पड़ता है कि हमेशा हम बाहर से इस समस्या के समीप जाते हैं, अपने आपसे पूछते हुए कि मानवीय, सामाजिक, आर्थिक, मानवजाति की इतनी सारी समस्याओं से आमना-सामना होने पर मुझे क्या करना चाहिये ? बाह्य की शब्दावली में हम इसका समाधान चाहते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—मैं यह नहीं पूछ रहा हूँ कि मैं दुनिया की आर्थिक, सामाजिक या राजनीतिक समस्याओं को हाथ में कैसे लूँ या कैसे सुलझाऊँ। यह तो बहुत अनर्गल होगा ! मैं यह जानना चाहता हूँ कि जैसी दुनिया है इसमें कैसे मैं सदाचारिता से जी सकता हूँ, क्योंकि यह जैसी है अब ठीक यहाँ मेरे सामने है, और मैं इसकी किसी और रूप में इच्छा भी तो नहीं कर सकता। जैसी यह दुनिया है अब मुझे इसी में जीना है, और इन्हीं परिस्थितियों में जीवन की समस्याओं का समाधान करना है। इस जीने को कैसे एक धर्म-जीवन बनाया जाए; मैं यह पूछ रहा हूँ कि वह कौन सा सद्गुण है जो बाहर से आरोपित नहीं है, जो किसी नीतिवचन का अनुनय भी नहीं है और किसी विचार द्वारा सम्बन्धित भी नहीं है ?

कृष्णमूर्ति :—क्या आपका अभिप्राय है कि आप स्वयं को तत्काल, अचानक, अनुग्रह की स्थिति में पाना चाहते हैं, जो महान् प्रज्ञा, अबोधता तथा प्रेम है—बिना किसी अतीत या भविष्य के अपने आपको इस अवस्था में पाना और इस अवस्था से क्रिया करना ?

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ ! बिलकुल यही।

कृष्णमूर्ति :—इसे उपलब्धि, सफलता या विफलता से कुछ लेना देना नहीं है। जीने का निश्चय ही अकेला एक ढंग होगा : वह क्या है ?

प्रश्नकर्त्ता :—यही तो मेरा प्रश्न है।

कृष्णमूर्ति :—स्वयं में उस ज्योति का होना जिसका न आदि है और न ही अन्त, आपकी आकांक्षा से जो प्रज्वलित नहीं है, जो आपकी या किसी और की नहीं है। जब यह आन्तरिक ज्योति है तब आप जो कुछ करेंगे वह उचित और सत्य होगा।

प्रश्नकर्त्ता :—यह ज्योति मिलेगी कैसे, **अब**, बिना संघर्ष, खोज, चाहत और प्रश्न के ?

कृष्णमूर्ति :—जब आप सम्पूर्णतया अतीत के लिए मृत हैं तभी केवल यह सम्भव है, और यह तभी हो सकता है जब मस्तिष्क में सम्पूर्ण व्यवस्था है। मस्तिष्क अव्यवस्था नहीं झेल सकता। अगर अव्यवस्था है तो इसके सभी कार्यकलाप अन्तर्विरोधी, अस्तव्यस्तता में तथा व्यथित होंगे, यह खुद में तथा अपने आस-पास अनिष्ट ही लायेगा। यह व्यवस्था विचार की रूपरेखा नहीं है, या आज्ञाकारिता, सिद्धान्त, सत्ता या कल्पित अच्छाई के किसी रूप का नमूना भी नहीं है। मस्तिष्क में अव्यवस्था ही द्वन्द्व लाती है, फिर इस अव्यवस्था से पलायन के विचार द्वारा सम्वर्धित प्रतिरोध उत्पन्न होते हैं—धार्मिक या कोई अन्य।

प्रश्नकर्त्ता :—वह मस्तिष्क जो स्वयं में ही अन्तर्विरोधी है तथा अव्यवस्थित है, उसमें व्यवस्था कैसे आ सकती है ?

कृष्णमूर्ति :—पूरे दिन चौकसी में रहने से, और फिर, सोने से पहले जो कुछ भी दिन में हुआ उसको व्यवस्थित करने से। ऐसा करने से मस्तिष्क अव्यवस्था में निन्द्रामग्न नहीं होता। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मस्तिष्क स्वयं को व्यवस्था की स्थिति में सम्मोहित कर लेता है, जब कि वस्तुतः इसमें और इसके आसपास अव्यवस्था रहती है। दिन में तो व्यवस्था होनी चाहिए, और सोने से पहले इस व्यवस्था का संक्षेपण ही दिन का सामंजस्यपूर्ण अन्त है। यह तो उस मनुष्य की तरह है जो लेखा-जोखा रखता है तथा प्रत्येक शाम उचित ढंग से जमा-नामे बराबर कर लेता है ताकि अगला दिन वह नए सिरे

से आरम्भ कर सके, तथा जब वह सोने के लिए जाता है तो उसका मानस शान्त व रिक्त रहता है, न कि व्याकुल, अस्तव्यस्त, चिन्तित या भयभीत। जब वह सुबह उठता है तब वहाँ यही ज्योति रहती है जो विचार या सुख का उत्पादन नहीं है। यह ज्योति प्रज्ञा और प्रेम है। जिस नैतिकता की अवस्था में हम पले हैं और बड़े हुये हैं उसी नैतिक अव्यवस्था का यह निषेध है।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या तत्काल ही मुझे यह ज्योति मिल सकती है? ठीक शुरू में ही मैंने यह प्रश्न पूछा था, मात्र इसे अलग ढंग से प्रस्तुत किया था।

कृष्णमूर्ति:—आप को यह तत्काल ही मिल सकती है अगर "अहम्" नहीं है। "अहम्" का अन्त हो जाता है जब वह यह देखता है कि उसका अन्त होना ही चाहिए; यह अवलोकन समझ का प्रकाश है।

30

व्यक्ति और समुदाय

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे कुछ समझ में नहीं आ रहा है कि यह प्रश्न मैं कैसे पूछूं, पर मुझे इसका तीव्र एहसास है कि व्यक्ति और समुदाय का सम्बन्ध, यह दो विरोधी इकाईयाँ, एक भीषण अनिष्ठ का लम्बा इतिहास है। संसार का इतिहास यानी विचार और सभ्यता का इतिहास, आखिरकार इन्हीं दो विरोधी इकाईयों के सम्बन्धों का ही तो इतिहास है। प्रत्येक समाज में व्यक्ति का कुछ कम या अधिक दमन किया जाता है; और सिद्धान्तवादियों ने जो प्रारूप निर्धारित किये हैं उसी का अनुनय व्यक्ति को करना पड़ता है और उसके उपयुक्त होना पड़ता है। व्यक्ति इन प्रारूपों को तोड़ने का सदैव प्रयास करता रहता है और परिणाम है इन दोनों के मध्य सतत् संग्राम। धर्म ऐसी बातें करते हैं कि व्यक्तिगत-आत्मा हमेशा सामूहिक-आत्मा से भिन्न होती हैं। वह व्यक्ति पर बल देते हैं। आधुनिक समाज में—जो इतना मशीनी, मानकीकृत और सामूहिक रूप से सक्रिय हो गया है—व्यक्ति अपना तादात्म्य

स्थापित करने का प्रयास कर रहा है, अन्वेषण कर रहा है कि वह क्या है, तथा अपने स्वयं का प्रभाव डालता है। ये सब संघर्ष हमें कहीं भी नहीं ले जा पाते। इसमें क्या दोष है, यही मेरा प्रश्न है।

कृष्णमूर्ति :—जीवन में कोई क्रिया अच्छाई की हो, प्रेम की हो और प्रज्ञा की हो, यही बात महत्त्व की है। क्या अच्छाई व्यक्तिगत है या सामूहिक, क्या प्रेम वैयक्तिक है या अवैयक्तिक, क्या प्रज्ञा आप की है, मेरी है या किसी और की ? अगर यह आपकी या मेरी है तो यह प्रज्ञा नहीं है, प्रेम या अच्छाई नहीं है। किसी की वरीयता या निर्णय के अनुसार अगर अच्छाई किसी व्यक्ति या समूह का मामला है, तब यह अच्छाई नहीं है। अच्छाई व्यक्ति के पिछवाड़े के आँगन में या समूह के खुले क्षेत्र में नहीं है; दोनों से मुक्ति में ही अच्छाई पुष्पित होती है। जहाँ यह अच्छाई है, प्रेम और प्रज्ञा है, वहाँ व्यक्ति या समूह के शब्दावली में क्रिया नहीं होती। अच्छाई के अभाववश हम दुनिया को व्यक्ति और समूह में बाँट देते हैं; धर्म, राष्ट्रीयता और वर्ग के अनुसार इन समूहों को आगे फिर अनगिनत दलों में बाँट देते हैं। इन विभाजनों का सृजन करने के पश्चात् नए दलों को बनाकर इनके बीच सेतु बाँधने का प्रयास करते हैं, ये नये दल फिर अन्य दलों में विभाजित हो जाते हैं। हम देखते हैं कि प्रत्येक महान् धर्म मनुष्य में भ्रातृभाव लाने के लिए ही अनुमानतः अस्तित्व में है, जबकि वस्तुतः यह बंधुत्व को अवरुद्ध करता है। जो पहले से ही भ्रष्ट है, हम उसका सुधार करने की कोशिश करते हैं। हम भ्रष्टाचार का उन्मूलन मूलतः नहीं करते, बल्कि केवल दुबारा और अधिक उनको सजाते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या आप यह कह कह रहे हैं कि हमें व्यक्ति और समूह की निरन्तर सौदेबाजी में समय बरबाद नहीं करना चाहिए, या यह सिद्ध करने में कि यह दोनों भिन्न हैं या समान हैं ? अच्छाई, प्रेम और प्रज्ञा ही विषय है और यह व्यक्ति या समूह से परे हैं, क्या आप यह कह रहे हैं ?

कृष्णमूर्ति :—जी हाँ।

प्रश्नकर्त्ता :—रोजमर्रा के जीवन में प्रेम, अच्छाई और प्रज्ञा कैसे कार्यवाही करे, यही वास्तविक प्रश्न है।

कृष्णमूर्ति :—अगर यह क्रियाशील हैं तब व्यक्ति और समूह का प्रश्न मात्र शैक्षिक है।

प्रश्नकर्त्ता :—ये कैसे क्रिया करेंगे ?

कृष्णमूर्ति :—यह केवल सम्बन्ध में ही क्रिया कर सकते हैं : समस्त अस्तित्व सम्बन्ध में ही है। सर्वप्रथम, प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक व्यक्ति से अपने सम्बन्ध के प्रति सजग होना है, और यह देखना है कि कैसे इस सम्बन्ध में "अहम" का जन्म होता है तथा वह क्रिया करता है। यह "अहम" सामूहिक और व्यक्तिगत दोनों है ; यह "अहम" ही अलग-अलग करता है ; यह "अहम" ही सामूहिक या व्यक्तिगत रूप से क्रिया करता है, यह "अहम" ही स्वर्ग और नरक का सृजन करता है। इसके प्रति सजग होना ही इसे समझना हैं। इसकी समझ ही इसकी समाप्ति है। इसका समापन ही अच्छाई, प्रेम और प्रज्ञा है।

31

ध्यान एवं ऊर्जा

प्रश्नकर्त्ता :—ध्यान के गूढ़ अर्थ का या गहन भाव की आज सुबह मैं जाँच-पड़ताल करना चाहूँगा। ज़ेन सहित इसकी बहुत सारी किस्मों का मैंने अभ्यास किया है। अनेक स्कूल हैं जो सजगता सिखलाते हैं, पर वह सब सतही दिखाई पड़ते हैं। अतः क्या हम इन सबको एक तरफ रख कर इसकी अधिक गहराई से जाँच-पड़ताल कर सकते हैं?

कृष्णमूर्ति :—हमें सत्ता के समस्त भावों को भी अलग रखना होगा, क्योंकि किसी भी रूप में सत्ता, चाहे वह अपनी हो या अन्य की, ध्यान में बाधा है तथा मुक्ति, ताजगी तथा नएपन को अवरुद्ध करता है। अतः सत्ता, अनुनय, अनुकृति, अनुकरण को सम्पूर्णतः अलग रखना होगा। अन्यथा आप मात्र अनुकरण करते हैं तथा जो कहा गया है उसका अनुसरण करते हैं, और यही मानस को नीरस और मूर्ख बना देता है। इसमें मुक्ति नहीं है। आपका पूर्व

अनुभव पथ-प्रदर्शन अवश्य कर सकता है, निर्देश दे सकता है या फिर एक नया पथ भी स्थापित कर सकता है, इसलिए इसे भी अलग रहना होगा। केवल तभी ध्यान कही जानेवाली गूढ़ व विलक्षण वस्तु का हम जाँच पड़ताल कर ककते हैं। ध्यान का सार ही ऊर्जा है।

प्रश्नकर्त्ता :—बहुत वर्षों से मैं इसकी कोशिश कर रहा हूँ कि मैं किसी और की सत्ता या प्रारूप का दास न बन जाऊँ। अपने आपको धोखा देने का खतरा तो है ही, पर जब हम एक साथ आगे बढ़ रहे हैं तब शायद मैं पता लगा लूँ। जब आप कहते हैं कि ध्यान ही ऊर्जा का सार है, तो यहाँ ऊर्जा और ध्यान शब्दों से आप का क्या आशय है ?

कृष्णमूर्ति :—विचार की प्रत्येक गति और क्रिया ऊर्जा को माँग करती है। आप कुछ भी करें या कुछ भी सोचें, उसे ऊर्जा की आवश्यकता होती है और इस ऊर्जा का अपव्यय हो सकता है द्वन्द्व द्वारा, विविध प्रकार के अनावश्यक विचार द्वारा या भावात्मक अनुधावन तथा भावप्रवण क्रियाकलापों द्वारा। द्वैत द्वारा उत्पादित द्वन्द्व में ऊर्जा का क्षय होता है तथा "अहम" व "अनाहम" में, प्रेक्षक व प्रेक्षित के विभाजन में, विचारक व विचार में भी ऊर्जा का क्षय होता है। जब क्षय नहीं हो रहा होता है तब ऊर्जा का ऐसा गुण है जिसे सजगता कहा जा सकता है—सजगता जिसमें मूल्यांकन, निर्णय, निन्दा या तुलना नहीं है, केवल सतर्क प्रेक्षण है, जैसी वस्तुएँ हैं उन्हें वैसी देखना, बाह्य और भीतरी दोनों तरह से, बिना विचार के हस्तक्षेप के जो वस्तुतः अतीत हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—यह समझना तो मुझे बहुत मुश्किल लग रहा है। अगर कोई भी विचार न हो तो क्या वृक्ष को, अपनी पत्नी को या पड़ोसी को पहचान पाना कभी सम्भव होगा ? जब आप वृक्ष को देखते हैं या पड़ोस की एक स्त्री को देखते हैं, तो उन्हें पहचानना तो आवश्यक है, क्या यह नहीं है ?

कृष्णमूर्ति :—जब आप वृक्ष का प्रेक्षण करते हैं तो क्या उसकी पहचान आवश्यक है ? जब आप वृक्ष को देखते हैं तो क्या मात्र देखते हैं या कहते हैं कि यह वृक्ष है ? जब आप इसे चिराबेल, बरगद या आम के वृक्ष की तरह पहचानना आरम्भ करते हैं, तब सीधे प्रेक्षण में अतीत हस्तक्षेप करता है। इसी भाँति जब आप अपनी पत्नी को देखते हैं, खीज या सुख की स्मृतियाँ

के साथ देखते हैं, तो आप उसे नहीं देखते बल्कि आपके मानस में जो उसकी प्रतिमा है उसे देख रहे हैं। यह सीधे प्रत्यक्षज्ञान को अवरुद्ध करता है : सीधे प्रत्यक्षज्ञान को पहचान की आवश्यकता नहीं पड़ती। आप की पत्नी, बच्चों, घर, या आप के पड़ोसी की बाह्य पहचान तो निःसंदेह आवश्यक है, पर आँखों, मानस व हृदय में उस अतीत का हस्तक्षेप क्यों हो? स्पष्टतः देखने में क्या यह आप को बाधा नहीं डालता? जब आप निन्दा करते हैं या किसी वस्तु के विषय में राय बना लेते हैं, तो यह राय या पूर्वाग्रह सर्वदा प्रेक्षण को विरूपित करते हैं।

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ, यह समझ में आ रहा है। मैं यह देखता हूँ कि पहचान का कोई सूक्ष्म सा रूप भी विरूपित करता है। विचार द्वारा सभी हस्तक्षेप ऊर्जा का क्षय है। बिना किसी प्रकार की पहचान या निन्दा या निर्णय किये प्रेक्षण करना चाहिये, यह आप कहते हैं; बिना नामकरण के प्रेक्षण करो, क्योंकि यह नामकरण. पहचान तथा निन्दा ऊर्जा का क्षय है; यह भी आप कहते हैं। इसे वस्तुतः तथा तर्कयुक्ति से समझा जा सकता है। अब दूसरा विषय भी है; विभाजन या अलगाव का, या जैसा अक्सर आपने अपनी वार्ताओं में कहा है, प्रेक्षक और प्रेक्षित के मध्य अन्तराल होता है जो द्वैत का सृजन करता है, यह भी ऊर्जा का क्षय है और द्वन्द्व लाता है, ऐसा भी आप कहते हैं। आप जो कहते हैं उसे मैं तर्कयुक्त पाता हूँ। परन्तु अन्तराल को हटाना तथा प्रेक्षक और प्रेक्षित में सामंजस्य लाना असाधारणतयः कठिन लगता है। इसे कैसे करना होगा?

कृष्णमूर्ति :—यहाँ "कैसे" का कोई सवाल नहीं है। कैसे का अर्थ है कोई प्रणाली, पद्धति या अभ्यास जो यान्त्रिक बन जाता है। हमें फिर से "कैसे" शब्द से छुटकारा पाना होगा।

प्रश्नकर्त्ता :—क्या यह सम्भव है? सम्भव शब्द का निहितार्थ है भविष्य, प्रयत्न, सामंजस्य लाने की होड़ आदि, पर कुछेक शब्दों का प्रयोग तो करना ही पड़ता है। मुझे उम्मीद है कि हम इन शब्दों से परे जा सकते हैं। अतः प्रेक्षक और प्रेक्षित में एकता लाना क्या सम्भव है? क्या प्रेक्षक और प्रेक्षित एक में संयुक्त हो सकते हैं?

कृष्णमूर्ति :—प्रेक्षक तो सदैव प्रेक्षित वस्तु पर अपनी छाया डालता रहता है। हमें प्रेक्षक के स्वभाव और संरचना को समझना होगा न कि इन दोनों में एकता कैसे लाई जाय। प्रेक्षक की गति को समझना होगा, और शायद इस समझ में प्रेक्षक का अन्त हो जाय। हमें परीक्षण करना है कि प्रेक्षक क्या है : यह अतीत है अपनी चेतन एवं अचेतन स्मृतियों सहित, अपने जातीय उत्तराधिकारों, संचित अनुभवों जिसे यह ज्ञान कहता है तथा अपनी प्रतिक्रियाओं सहित। वस्तुतः प्रेक्षक एक प्रतिबद्ध इकाई है। वही यह दावा करता है कि वह है, तथा मैं हूँ। भीतरी या बाह्य आराम और सुरक्षा की तलाश करते हुए, तथा अपनी रक्षा के लिए यह प्रतिरोध करता है और अधिकार जमाता है। और तब जिसका यह प्रेक्षण करता है उससे कुछ भिन्न वस्तु की तरह प्रेक्षक स्वयं को अलग रख देता है। इससे द्वैतता उत्पन्न होती है, इस द्वैतता से द्वन्द्व और वहीं पर उर्जा का क्षय है। प्रेक्षक के प्रति सजग होने के लिए उसकी गति-विधियाँ, आत्म-केन्द्रित क्रियायें, उसके दावे, उसके पूर्वाग्रह……इन सभी अनभिज्ञ गतियों के प्रति आपको सजग होना होगा जो अलगाववादी मनोभाव बनाते हैं कि आप भिन्न हैं। इसका प्रेक्षण करना होगा बिना किसी प्रकार के मूल्यांकन के या पसन्द-नापसन्द के। इसके सम्बन्धों में इसका प्रतिदिन के जीवन में आप प्रेक्षण करें। जब यह प्रेक्षण स्पष्ट होता है तब क्या वहाँ प्रेक्षक से मुक्ति नहीं है ?

प्रश्नकर्त्ता :—महोदय, आप कह रहे हैं कि प्रेक्षक तो वस्तुतः अहंकार है और जब तक अहंकार है तब तक यह प्रतिरोध, विभाजित तथा अलग-अलग करेगा ही क्योंकि इस अलगाव तथा विभाजन में यह अपने को सजीव महसूस करता है। यह उसे लड़ने के लिए तथा प्रतिरोध के लिए जीवन-शक्ति प्रदान करता है। वह इस संग्राम का अभ्यस्त हो गया है; यही उनके जीने का ढंग है। केवल "मैं" का क्रिया में अवलोकन हो और जिसमें पसन्द, या नापसन्द, अभिमत या निर्णय का भाव न हो, ऐसे प्रेक्षण द्वारा यह अहंकार, यह "मैं" तो विलीन हो जाना चाहिये, क्या आप यह नहीं कह रहे हैं ? पर क्या वास्तव में यह हो सकता हैं ? बिना विरूपन के इतनी सम्पूर्णता, इतनी सत्यता से क्या मैं स्वयं को देख सकता हूँ ? आप कहते हैं कि जब मैं इतनी स्पष्टता से स्वयं को देखता हूँ तब "मैं" की वहाँ गति ही नहीं है। और आप कहते हैं कि यह ध्यान का हिस्सा है ?

कृष्णमूर्ति :—निसंदेह। यही ध्यान है।

प्रश्नकर्त्ता :—यह प्रेक्षण निश्चय ही असाधारण स्व-अनुशासन की अपेक्षा करता है।

कृष्णमूर्ति :—स्व-अनुशासन से आप का क्या आशय है ? क्या स्व को किसी जकड़-जामा में डाल कर अनुशासित करने से आपका मतलब है, या स्व के के विषय में सीखने से है ? स्व जो स्वाग्रही है, अधिकार जमाता है, महत्त्वाकांक्षी है, हिंसक है, क्या आप का आशय इसके बारे में सीखने से है ? सीखना स्वयम् में ही अनुशासन है। अनुशासन शब्द का अर्थ है सीखना, और जब सीखना है तब संचयन नहीं है, जब वास्तव में ही सीखना है, जिसे अवधान की अपेक्षा रहती है, तब यह सीखना अपना ही उत्तरदायित्व लाता है, अपनी क्रिया एवं अपना ही आयाम लाता है : इस पर अनुशासन आरोपित नहीं किया जा सकता। जहाँ सीखना है वहाँ अनुकरण नहीं है, अनुनय नहीं है, सत्ता नहीं है। अगर अनुशासन शब्द से यही आपका अभिप्राय है तब अवश्य ही वहाँ सीखने की मुक्ति है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप मुझे बहुत दूर ले जा रहे हैं और शायद बहुत गहराई मे भी, और जहाँ तक यह सीखने का प्रश्न है तो मैं आप के साथ नहीं चल सकता। मैं बहुत स्पष्टतः देख रहा हूँ कि स्व का प्रेक्षक के रूप में अन्त होना चाहिए। और कोई भी द्वन्द्व नहीं होना चाहिए, तर्कयुक्ति से यह ऐसा है, यह भी स्पष्ट है। आप कह रहे हैं कि यही प्रेक्षण सीखना भी है और सीखने में तो सदैव संचयन होता है और यह संचय अतीत बन जाता है। सीखना सर्वदा योगात्मक प्रक्रिया है, प्रतीयमानतः आप इसे सर्वथा भिन्न अर्थ दे रहे हैं। जो कुछ आप द्वारा मैंने समझा है वह यह कि सीखना निरन्तर की एक ऐसी गति है जहाँ संचय नहीं है। क्या ऐसी बात है ? क्या बिना संचयन के सीखना हो सकता है ?

कृष्णमूर्ति :—सीखना अपनी ही क्रिया है। अक्सर ऐसा होता है कि कुछ सीखने के पश्चात् हम उसी पर क्रिया करते हैं जो हमने सीखा है। अतः अतीत और क्रिया में विभाजन है। जो होना चाहिए और जो है, या जो था और जो है, के बीच द्वन्द्व है। हम कह रहे हैं कि सीखने की गति में ही क्रिया है : अर्थात्, सीखना ही करना है; पहले सीखना और तत्पश्चात् क्रिया का कोई प्रश्न नहीं है। यह समझ लेना बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि सीखने के बाद उस संचय से क्रिया करना, "अहम", "मैं", अहंकार या जो भी नाम आप

देना चाहें, का स्वभाव है। "मैं" तो अतीत का सार है, अतीत वर्तमान से टकराता है और भविष्य में आगे बढ़ता है। इसमें सतत विभाजन है। जहाँ सीखना है वहाँ निरन्तर गति है ; वहाँ कोई संचय नहीं है जो "मैं" बन सके।

प्रश्नकर्त्ता: —परंतु तकनीकि क्षेत्र में तो संचित ज्ञान का होना आवश्यक है। आप अटलांटिक सागर पर उड़ान नहीं भर सकते, कार नहीं चला सकते, यहाँ तक कि बिना ज्ञान के एक साधारण सा काम भी नहीं कर सकते।

कृष्णमूर्ति :—बिलकुल नहीं कर सकते; ऐसा ज्ञान तो नितान्त आवश्यक है। पर हम तो मनोवैज्ञानिक क्षेत्र की बातें कर रहे हैं जिसमें "मैं" परिचालित है। पदवी, प्रतिष्ठा या कुछ पाने के लिए यह "मैं" तकनीकि ज्ञान का प्रयोग कर सकता है; किंतु यदि इस कार्य में "मैं" हस्तक्षेप करता है तब मामला गड़बड़ होने लगता है क्योंकि तकनीकि साधनों द्वारा "मैं" प्रतिष्ठा की तलाश करने लगता है। अतः वैज्ञानिक क्षेत्र में "मैं" मात्र ज्ञान से सम्बन्ध नहीं रहता, पर इसका कुछ और प्राप्त करने के लिए उपयोग करता है। यह तो उस संगीतज्ञ की भाँति है जो प्रसिद्ध बनने के लिए पियानों का प्रयोग करता है। उसका सरोकार तो प्रसिद्धि से है, न कि संगीत के सौन्दर्य से। हम यह नहीं कह रहे हैं कि तकनिकि ज्ञान से हमको छुटकारा पाना है, बल्कि उलटे जितना ज्यादा तकनिकि ज्ञान होगा उतनी ही जीने की परिस्थितियाँ भी बेहतर होंगी। पर जब "मैं" इसे प्रयोग करता है तभी मामला गड़बड़ हो जाता है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप क्या कह रहे हैं यह मैंने समझना शुरू कर दिया है। आप सीखना शब्द को काफी भिन्न अर्थ और आयाम देते हैं जो अद्‌भुत् है। मैं इसे समझना शुरू कर रहा हूँ। आप कह रहे हैं कि ध्यान सीखने की गति है और उसी में हर चीज के बारे में सीखने की मुक्ति है, न केवल ध्यान के विषय में पर सभी कुछ के लिए जैसे, आप कैसे जीते हैं, कैसे आगे बढ़ते हैं, कैसे खाते हैं, कैसे बातचीत करते हैं, इत्यादि।

कृष्णमूर्ति :—जैसा हमने कहा, ऊर्जा का सार ध्यान है। इसे अलग ढंग से इस प्रकार कहें—जब तक ध्यानकर्ता है, ध्यान नहीं है। अगर वह अन्य द्वारा वर्णित अवस्था प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, या अनुभव की कोई कौंध···

प्रश्नकर्त्ता :—महोदय, क्या मैं यहाँ बीच में बोल सकता हूँ ? क्या आप कह रहे हैं कि सीखना तो सतत्, प्रवाह के समान, बिना क्रम-भंग रेखा के समान होना चाहिए, ताकि सीखना और क्रिया एक हो या वहाँ निरन्तर गति हो ? मुझे समझ में नहीं आता कि कौन सा शब्द प्रयोग करूँ, मुझे पक्का विश्वास है, कि आप समझ गए हैं कि मेरा क्या आशय है। जिस क्षण सीखना, क्रिया एवं ध्यान में विच्छेद होता है, तो यह विच्छेद ही असामंजस्य है, यह विच्छेद ही द्वन्द्व है। इस विच्छेद में प्रेक्षक और प्रेक्षित अलग-अलग हैं, अतएव ऊर्जा का महान् क्षय है; क्या यही आप कह रहे हैं ?

कृष्णमूर्ति :—जी हाँ, हमारा यही अभिप्राय है। ध्यान कोई अवस्था नहीं है, यह गति है जैसे क्रिया एक गति है। जैसा हमने अभी-अभी कहा, जब हम क्रिया को सीखने से अलग कर देते हैं, तब सीखना और क्रिया के मध्य प्रेक्षक आ जाता है। तब प्रेक्षक ही महत्त्वपूर्ण बन जाता है; और तब वह क्रिया और सीखना दोनों का किसी गुप्त प्रयोजनों के लिए प्रयोग करता है। जब क्रिया, सीखना और ध्यान की सामंजसित गति होती है तब ऊर्जा का कोई क्षय नहीं होता, और यही ध्यान का सौन्दर्य है। गति केवल एक है। ध्यान या क्रिया की बजाए सीखना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। सीखने के लिए सम्पूर्ण मुक्ति होनी चाहिए, केवल अभिज्ञता से नहीं वरन् गहराई से तथा आभ्यान्तरिक रूप से पूर्ण मुक्ति होनी चाहिए। केवल मुक्ति में एक सामंजसित समग्र के रूप में, सीखने की क्रिया की तथा ध्यान की गति सम्भव है। समग्र शब्द का अर्थ केवल स्वास्थ्य नहीं अपितु पावन है। अतएव सीखना, क्रिया, ध्यान, सभी पावन हैं। वास्तव में यही पवित्र है और इसी में सौन्दर्य है, इससे परे नहीं।

●

32
विचार की समाप्ति

प्रश्नकर्त्ता :—मुझे नहीं मालूम कि विचार की समाप्ति से आप का क्या तात्पर्य है ? इस विषय में मैंने अपने मित्र से बात की, और उन्होंने कहा कि यह तो पूर्वी देशों की अनाप-शनाप बातें हैं। उनके लिए यह विचार ही प्रज्ञा व क्रिया का उच्चतम रूप है, अपरिहार्य है, बस यों समझें कि उनके लिए विचार ही जीवन का सार है। इसी ने सभ्यता का सृजन किया है, और सभी सम्बन्ध इस पर आधारित हैं। महानतम् विचारक से लेकर अति-दीन-हीन श्रमिक तक तथा हम सभी इसे स्वीकार करते हैं। जब हम विचार नहीं करते तो हम सोते हैं, निष्क्रिय जीवन बिताते हैं या फिर दिव्य स्वप्न मे लीन रहते हैं, हम शून्य, नीरस व अनुर्वर हैं, और जब हम जाग्रत हैं तो विचार करते हैं, कार्य करते हैं, जीवित हैं, और झगड़ा करते हैं : यही दो अवस्थाएं हैं जिन्हें हम जानते हैं। आप कहते हैं कि इनसे परे हो जाओ—विचार से और शून्य निष्क्रियता से। इससे आपका क्या अभिप्राय है ?

कृष्णमूर्ति :—यदि इसे बहुत सरल रूप से प्रस्तुत किया जाय तो आपको मालूम पड़ेगा कि यह विचार हमेशा स्मृति और अतीत की अनुक्रिया ही है। अतीत तो अपरिमेय है या एक सेकेण्ड पहले का भी हो सकता है। जब यह विचार कभी क्रिया करता है तब यह अतीत ही स्मृति, अनुभव, ज्ञान और अवसर के रूप में ही कार्यरत होता है। सभी प्रकार के संकल्प हमारी आकांक्षा ही होती हैं जो सुख या पीड़ा से बचाव की ओर निर्देशित रहती है; ये अतीत पर ही आधारित रहती हैं। जब भी विचार कार्यरत है तो यह अतीत है, अतएव वह नवीन जीवन नहीं है; वर्तमान में मात्र अतीत ही जीवित है, स्वयं को किंचित परिवर्तित करते हुए। इस तरह जीवन में नया कुछ भी नहीं है; अगर कुछ नया पाना है तो अतीत की अनुपस्थिति होनी ही चाहिए; विचार, भय, सुख और अन्य सभी कुछ का मानस में जमघट नहीं होना चाहिए। जब मानस घाल-मेल रहित होता है, तभी केवल कोई नवीन अस्तित्व में आ सकता है। इसी कारण हम कहते हैं कि विचार को निरूद्वेग होना चाहिये, शांत होना चाहिये तथा इसे कुशलता से तभी सक्रिय होना चाहिये जब आवश्यक हो। सभी सातत्य विचार ही होते हैं; और जब निरन्तरता है तो अभिनव नहीं है। क्या आप देखते हैं कि यह कितना महत्त्वपूर्ण है? वस्तुतः यह तो जीवन का खुद ही एक प्रश्न है। या तो आप अतीत में जीते हैं या पूर्णतः भिन्न प्रकार से : यही जीवन का समग्र मर्म है।

प्रश्नकर्त्ता :— मेरे विचार से मैं समझ रहा हूँ कि आप का क्या अभिप्राय है। पर इस संसार में विचार की समाप्ति करें तो कैसे करें? जब कोयल को सुनता हूँ, तत्क्षण विचार मुझे बतलाता है कि यह कोयल है; जब मैं सड़क पर चल रहा होता हूँ तो विचार मुझे बताता है कि मैं सड़क पर चल रहा हूँ; जो मैं देखता हूँ, पहचानता हूँ, वह भी विचार ही बतलाता है। जब मैं सोच-विचार न करने की धारणा का खेल खेलता हूँ, तो भी तो यह विचार का ही खेल हुआ। सभी अर्थ, सभी समझ और सभी सम्पर्क आखिर विचार ही तो हैं। जब मैं किसी और से बात-चीत नहीं करता तो मैं स्वयं से ही करता हूँ। जब मैं जाग्रत हूँ तो मैं सोचता हूँ, और जब मै निन्द्रा में हूँ तब भी सोचता हूँ। मेरे अस्तित्व का समस्त ढाँचा ही विचार है। जितना मैं जानता हूँ उससे भी गहरी जड़ें हैं इसकी। मैं जो सब सोचता हूँ, करता हूँ, मै जो हूँ, वह सब विचार हैं—सुख, दुःख, अभिलाषा, चाहत, दृढ़प्रतिज्ञा, निर्णय, आशा, भय तथा प्रश्न का सृजन करते हुए विचार। विचार ही किसी का

खून करता है, विचार ही क्षमा करता है। अतः कोई कैसे इससे पार जा सकता है? क्या यह विचार ही नहीं है जो इससे परे जाने की पूछ-ताछ करता है?

कृष्णमूर्ति :—हम दोनों ने यह कहा कि जब विचार निरूद्वेग हैं तभी कुछ नया हो सकता है। हम दोनों ने इस बात को स्पष्टतः देखा। इसे स्पष्टतः समझना ही विचार की समाप्ति है।

प्रश्नकर्त्ता :—पर यह समझ भी तो विचार ही है।

कृष्णमूर्ति :—क्या यह सही है? आप इसे मान लेते हैं कि यह विचार है, पर क्या यह वस्तुतः है भी?

प्रश्नकर्त्ता :—यह तो अर्थगर्भित मानसिक गति है. स्वयं से संवाद है।

कृष्णमूर्ति :—अगर यह स्वयं से संवाद है तो यह विचार है। पर क्या समझ अर्थगर्भित मानसिक गति है?

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ, यह है।

कृष्णमूर्ति :—शब्द का अर्थ और अर्थ की वह समझ यह विचार है और जीवन में यह आवश्यक भी है। यहाँ विचार को कुशलता से कार्यरत रहना है। यह तकनिकी विषय है। पर आप यह तो नहीं पूछ रहे हैं। आप पूछ रहे हैं कि विचार का अन्त कैसे हो सकता है, जो कि जीवन की ही गति है—जैसा आप जानते हैं। क्या यह तभी समाप्त हो सकता हैं जब आप मृत हैं? यही आपका वास्तविक प्रश्न है, क्या नहीं है?

प्रश्नकर्त्ता :—जी हाँ।

कृष्णमूर्ति :—यही उचित प्रश्न है। मर जाएँ! मर जाएँ उस अतीत के लिए, परम्परा के लिए!

प्रश्नकर्त्ता :—पर कैसे?

कृष्णमूर्ति :—मस्तिष्क विचार का उद्‌गम है। मस्तिष्क विषय है, और विचार भी विषय है। क्या मस्तिष्क—अपनी सभी अनुक्रियाओं, सभी चुनौतियों की तत्काल प्रतिक्रियाओं तथा अपेक्षाओं सहित—क्या ऐसा मस्तिष्क निरूद्वेग हो सकता है? यह विचार की समाप्ति का प्रश्न नहीं है—पर क्या

मस्तिष्क सम्पूर्णतयः निरुद्वेग हो सकता है। जब आवश्यकता हो तब यह पूरे सामर्थ्य से क्रिया करे अन्यथा निरुद्वेग रहे, क्या यह हो सकता है? यह निरुद्वेगता कोई शारीरिक मृत्यु नहीं है।

जब मस्तिष्क सम्पूर्णतः निरुद्वेग है तो देखो कि क्या होता है?

देखो तो कि क्या होता है?

प्रश्नकर्त्ता :—इस जगह कोयल थी, हरा वृक्ष, नीला आकाश, दरवाजे पर हथौड़े लगाता हुआ व्यक्ति, वृक्षों के बीच बहती हुई हवा की आवाज, और मेरे अपने हृदय की धड़कन. देह की पूर्ण निश्चेष्टता, बस यही।

कृष्णमूर्ति :—अगर कोयल के गायन की पहचान थी तो मस्तिष्क सक्रिय था, वह अर्थ लगा रहा था। यह निरुद्वेग नहीं था। वस्तुतः यह अत्यधिक सतर्कता और अनुशासन की अपेक्षा रखता है, निगरानी जो स्वयं अपना अनुशासन लाती है, न कि सुखद नवीन अनुभव या निष्कर्ष को प्राप्त करने की अचेतन आकांक्षा द्वारा लाया गया या आरोपित अनुशासन। अतः दिन में विचार को कुशलतापूर्वक और समझदारी से कार्य करना है और स्वयं की निगरानी भी करनी है।

प्रश्नकर्त्ता :—यह तो सरल है, पर इससे परे जाने के सम्बन्ध में क्या हुआ?

कृष्णमूर्ति :—कौन पूछ रहा है यह प्रश्न? क्या यह नवीन को अनुभव करने की आकांक्षा है या परिपृच्छा है? अगर यह परिपृच्छा है, तब सोंच-विचार के समस्त मामले की आपको जाँच पड़ताल और खोज-बीन करनी चाहिए, अच्छी तरह इससे परिचित हो जाना चाहिए तथा इसकी सभी सूक्ष्मताओं और चालों को जानना चाहिए। अगर आपने यह किया है तब आप जानेंगे कि विचार से परे जाने का प्रश्न खोखला है। विचार क्या है यह जानना विचार से परे जाना है।

●

33

अभिनव मानव

प्रश्नकर्त्ता :—मैं एक सुधारक तथा समाजसेवी हूँ। दुनिया में असाधारण अन्याय देखते हुए, मेरा जीवन ही सुधार हेतु समर्पित रहा है। मैं साम्यवादी हुआ करता था, पर साम्यवाद के साथ अधिक आगे नहीं बढ़ सका, क्योंकि इसका निरंकुशवाद में अन्त हुआ। तिस पर भी मैं समाज को सुधारने के लिए समर्पित हूँ, ताकि मनुष्य गौरव से, सौन्दर्य में, स्वतन्त्रता से, जी सके; अपनी अन्तः शक्तियों को चरितार्थ कर सके, जो उसे प्रकृति द्वारा दी गई है और जो उसने अपने सहचरों से चुराई है। अमेरिका में एक निश्चित प्रकार की स्वतन्त्रता है, फिर भी वहाँ पर मानवीकरण और प्रचार बहुत बलशाली है—सभी जन-माध्यम मानस पर अत्यधिक दबाव डालते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दूरदर्शन की शक्ति ने—यह मशीनी उपकरण जिसका मानव ने आविष्कार किया है—अपने ही एक व्यक्तित्त्व, अपनी इच्छा व अपने संवेग का विकास किया है, हालाँकि कोई भी नहीं—शायद कोई समूह भी नहीं—इसका

समाज को प्रभावित करने के लिए जानबूझ कर प्रयोग कर रहा है, फिर भी इसका झुकाव हमारे बच्चों की आत्माओं को ढालता है। कम या अधिक मात्रा में ऐसा सभी लोकतन्त्रों में है। चीन में मनुष्य के गौरव या स्वतन्त्रता की उम्मीद नहीं दिखती, जबकि भारत में सरकार कमजोर, भ्रष्ट और अकुशल है। मुझे ऐसा लगता-है कि संसार का सारा सामाजिक अन्याय सर्वथा परिवर्तित होना चाहिए। मैं बहुत उत्कण्ठा से इसके लिए कुछ करना चाहता हूँ, फिर भी समझ में नहीं आता कि कहाँ से सुलझाना शुरू करूँ।

कृष्णमूर्ति :—सुधार को फिर से सुधार की आवश्यकता होती है; यह तो अन्तहीन प्रक्रिया है।

हम इसे अलग ढंग से देखें। हम सुधार के समस्त विचार को ही अलग रख दें, अपने खून से ही इसे अलग कर दें। दुनिया को सुधारने की इच्छा का विचार ही बिलकुल भूल जायें। अब हम देखते हैं कि पूरी दुनिया में वस्तुत: क्या घट रहा है। राजनीतिक दलों का सदैव सीमित सा कार्यक्रम होता है, और अगर वह पूरा भी हो जाए तो भी वह निरपवाद रूप से अनिष्ट ही लाता है, जिसे एकबार फिर ठीक करना पड़ता है। हम हमेशा राजनैतिक कार्य की बातें करते हैं, जैसे यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है, पर राजनैतिक कार्य कोई रास्ता नहीं है। हमें अपने दिमाग से ही इसे बाहर निकाल देना चाहिये। सभी सामाजिक और आर्थिक सुधार इसी वर्ग में आते हैं। और फिर विश्वास, आदर्शवाद, मतान्धता, तथा तथाकथित दैविक नुस्खों के अनुनय पर आधारित क्रिया का एक धार्मिक फारमूला भी वहाँ रहता है। इसमें सत्ता, स्वीकरण, आज्ञापालन और मुक्ति का सर्वथा निषेध निहित है। हालाँकि सभी धर्म पृथ्वी पर शान्ति की बात करते हैं पर यह अव्यवस्था में ही सहयोग देता है क्योंकि यह विभाजन का घटक है। संकट के समय गिरिजाघरों ने कोई न कोई राजनैतिक आधार लिया है, अत: वास्तव में यह राजनैतिक निकाय है और यह हमने देखा है कि सभी राजनैतिक क्रिया विभाजक है। गिरिजाघरों ने वास्तव में युद्ध को कभी नहीं नकारा, उलटे उन्होंने युद्ध लड़े हैं। जब धार्मिक नुस्खे अलग रख देते हैं, जैसे राजनैतिक फारमूलों को अलग रख देते हैं, तब बाकी क्या बचता है और आप को क्या करना है? स्वाभाविक है कि नागरिक व्यवस्था तो बनाए ही रखनी है,

आपको नलों में पानी जो चाहिए। अगर आप नागरिक व्यवस्था का विनाश कर देते हैं तब तो आपको पुनः शुरू से प्रारम्भ करना होगा। अतएव करना क्या चाहिये ?

प्रश्नकर्त्ता :—वस्तुतः यही तो मैं आप से पूछ रहा हूँ।

कृष्णमूर्ति :—आमूल परिवर्तन यानी हमारा मतलब पूर्ण क्रांति से है। मनुष्य और-मनुष्य के बीच, मानवों के बीच, क्रांति ही मात्र क्रांति है। केवल यही हमारा सरोकार है। इस क्रांति में कोई नक्शा, आदर्शवाद या प्रत्यात्मक युटोपिया नहीं है।. हमें मनुष्य के सम्बन्धों का वास्तविक तथ्य लेना है और इसका ही आमूल परिवर्तन करना है। यही वह वास्तविक चीज है। यह क्रांति तत्काल होनी है, इसे समय की आवश्यकता नहीं हैं। यह उत्क्रांति द्वारा प्राप्त नहीं की जाती क्योंकि उत्क्रांति तो समय है।

प्रश्नकर्त्ता :—आप का क्या अभिप्राय है ? सभी ऐतिहासिक परिवर्तन समय में हुए हैं, उनमें से कोई भी तत्काल नहीं हुआ है। आप तो काफी अचिन्तय बात प्रस्तावित कर रहे हैं।

कृष्णमूर्ति :—अगर परिवर्तन के लिए आप को समय चाहिए तो क्या आप मानते हैं कि जिस समय परिवर्तन हो रहा है उस समय जीवन स्थगन में है। आप जिस चीज को परिवर्तित करने की कोशिश कर रहे हैं वह स्वयं जीवन और परिवेश द्वारा रूपान्तरित हो रही है और स्थायी बनाई जा रही है। अतः इसका कोई अन्त नहीं है। वह जलाशय, जो निरन्तर गन्दे पानी से भरा जा रहा है, साफ कैसे रह सकेगा ? अतः समय का प्रश्न ही नहीं है !

अब, यह परिवर्तन किससे आएगा ? यह कोई संकल्प, दृढ़ता, विकल्प या आकांक्षा नहीं हो सकती क्योंकि यह तो उसी इकाई के अंश हैं जिसे परिवर्तित होना है। अतः हमें पूछना है : बिना संकल्प—शक्ति और हठधर्मिता के, जो सदैव द्वन्द्व कि क्रिया है, वह क्या है जो सम्भव है।

प्रश्नकर्त्ता ।—क्या कोई ऐसी क्रिया है जो संकल्प-शक्ति और हठधर्मिता की क्रिया नहीं है ?

कृष्णमूर्ति :—इस प्रश्न को पूछने की बजाय हम और गहरे उतरें। हम देखते हैं कि यथार्थ में केवल संकल्प-शक्ति और हठधर्मिता की क्रिया है जिसे परिवर्तित करने की जरूरत है, क्योंकि सम्बन्ध में द्वन्द्व ही मात्र अनिष्ट है, व्यक्तियों में या स्वयं व्यक्ति में, तथा संकल्प-शक्ति और हठधर्मिता ही द्वन्द्व है। ऐसी क्रिया के बिना जीने का अर्थ यह नहीं है कि हम शाक-भाजी की तरह जीते हैं। द्वन्द्व ही हमारी मुख्य दिलचस्पी है। सभी सामाजिक बीमारियाँ जिनका आप ने उल्लेख किया, प्रक्षेपण हैं उस द्वन्द्व का जो प्रत्येक मानव हृदय में है। आप के सभी सम्बन्धों में आप का आमूल रूपान्तरण ही मात्र सम्भाव्यतः परिवर्तन है, किसी धुंधले भविष्य में नहीं, पर अब, इसी क्षण।

प्रश्नकर्त्ता :—पर अपने आप में से इस द्वन्द्व, अन्तर्विरोध, प्रतिरोध तथा प्रतिबद्धता का सम्पूर्ण उन्मूलन मैं कैसे कर सकता हूँ! आप क्या कह रहे हैं यह मैं बौद्धिक रूप से तो समझ रहा हूँ; पर जब मैं इसे आवेगपूर्ण ढंग से महसूस करूंगा तभी मैं परिवर्तित हो सकता हूँ; और मैं इसे आवेगपूर्ण ढंग से महसूस नहीं करता। मेरे लिए तो यह मात्र एक धारणा बनकर रह जाती है, मैं इसे अपने हृदय से नहीं देख पाता। अगर मैं इस बौद्धिक समझ पर क्रिया करने की कोशिश करता हूँ तो मैं अपने ही किसी अन्य गहरे भाग ने द्वन्द्व में आ जाता हूँ।

कृष्णमूर्ति :—अगर आप वास्तव में इस अन्तर्विरोध को आवेगप्रबलता से देखें, तब वह प्रत्यक्षज्ञान ही क्रांति है। अगर आप अपने ही हृदय और मानस में यह विभाजन देखें, यथार्थ में देखें, इसकी सिद्धान्त रूप से कल्पना न करें, पर अवलोकन करें, तब समस्या का अन्त हो जाता है। एक व्यक्ति जो संसार के परिवर्तन की आवश्यकता के प्रति आवेग प्रबल है तो उसे राजनैतिक कार्यवाही से, परम्परा और धार्मिक अनुनय से मुक्त होना चाहिए, इसका तात्पर्य है, समय के बोझ से मुक्त, अतीत के भार से मुक्त, संकल्प शक्ति की सभी क्रिया से मुक्त : वही है अभिनव मानव। केवल यही सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और यहाँ तक कि राजनैतिक क्रांति है।

हिन्दी में उपलब्ध कृष्णमूर्ति साहित्य

1.	ज्ञात से मुक्ति (Freedom from the Known)	रू० 30.00
2.	ध्यान (Meditations)	रू० 30.00
3.	हिंसा से परे (Beyond Violence)	रू० 20.00
4.	गरुड़ की उड़ान (The Flight of the Eagle)	रू० 50.00
5.	संस्कृति का प्रश्न (This Matter of Culture)	रू० 25.00
6.	शिक्षा एवं जीवन का महत्त्व (Education and the Significance of Life)	रू० 30.00
7.	शिक्षा संवाद (Krishnamurti on Education)	रू० 15.00
8.	शिक्षा केन्द्रों के नाम पत्र (Letters to the Schools)	रू० 12.50
9.	सीखने की कला (On Learning)	रू० 10.00
10.	अन्तरतर का सहज प्रस्फुटन (Inward Flowering)	रू० 10.00
11.	आमूल क्रान्ति की आवश्यकता (Urgency of Change)	रू० 45.00
12.	'वही आदमी सुखी है जो कुछ नहीं है।' ("Happy is the Man who is Nothing")	रू० 12.00
13.	जीवन भाष्य (Commentaries on Living - I)	रू० 35.00
14.	जीवन भाष्य (Commentaries on Living - II)	रू० 35.00
15.	प्रथम और अन्तिम मुक्ति (The First and Last Freedom)	रू० 40.00
16.	विज्ञान और सर्जनशीलता (Krishnamurti at Los Alamos)	रू० 10.00
17.	जीवन की पुस्तक (The Book of Life)	रू० 10.00

मूल्य-सूची एवं अन्य जानकारी के लिए कृपया सम्पर्क करें :

जे० कृष्णमूर्ति प्रज्ञा परिषद्
कृष्णमूर्ति फाउंडेशन इंडिया
राजघाट फोर्ट, वाराणसी–221001

मूल्य रू. 45.00